पू. ब्र. श्री गोवर्धनदासजी प्रणीत

साधना पथ

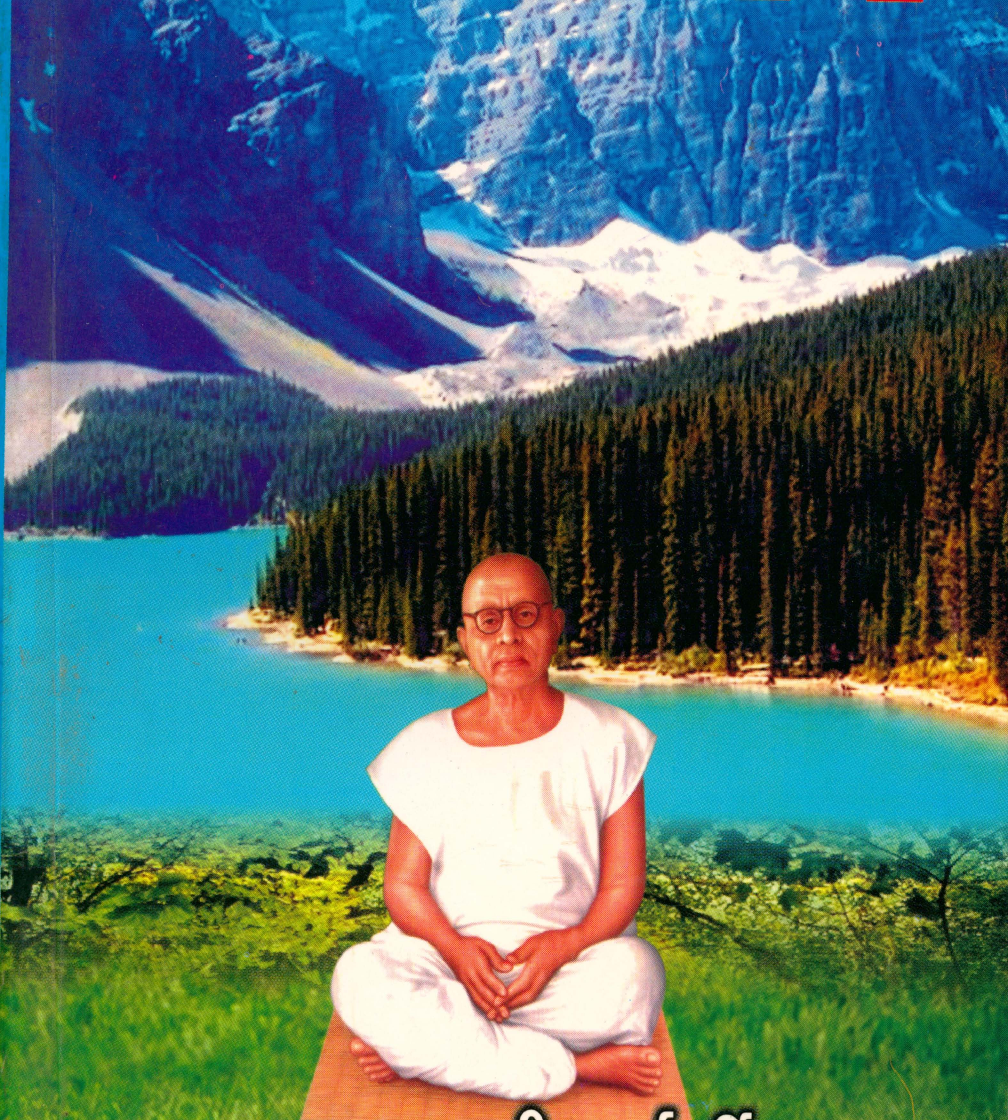

आत्म-साधना की मार्गदर्शिका

संपादक - प्रकाश डी. शाह

ॐ

प.पू.प्रभुश्रीजी के आज्ञांकित शिष्य

पू. ब्रह्मचारी श्री गोवर्धनदासजी

प्रणीत

卐

साधना पथ

(बोधामृतसार)

• संकलन-संपादन •

आत्मार्थी श्री प्रकाश डी. शाह, अमदावाद

• हिन्दी अनुवादिका •

पंजाबी साध्वी श्री जशवंतश्री प्रियदर्शनाश्री की शिष्या

साध्वी श्री हर्षप्रियाश्री महाराज

(प्रेरक-आचार्यश्री जनकचन्द्रसूरिश्वरजी महाराज)

• प्रकाशक •

श्रीमद् राजचंद्र निजाभ्यास मंडप

तथा

विहार भवन ट्रस्ट

अमदावाद - वडवा - ईडर

• प्राप्ति स्थान •

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम घंटिया पहाड़, ईडर, गुजरात. टे.: (02778) 251357.	श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम वडवा (खंभात), गुजरात. टे.: (02698) 220631.
श्रीमद् राजचन्द्र ज्ञानमंदिर राजकृपा फ्लेट की नजदीक में, सुविधा शोपींग सेन्टर की गली में पालडी, अमदावाद - 7. टे.: (079) 26631396	श्रीमती नीलम राजेन्द्र जैन 39-बी, किचलू नगर, लुधियाना (पंजाब). टे.: (0161) 2300274 2302259
श्री प्रकाशचन्द्र डाह्यालाल शाह सी/72, शुभलक्ष्मी टावर्स, संघवी हाईस्कुल के सामने, नारणपुरा, अहमदावाद - 13 टे.नं.: (079) 27414621.	श्री प्रफुलभाई काराणी C/o. रुपम ड्रायफ्रुट्स, 4, अशोक सम्राट, दफतरी रोड, मलाड (ईस्ट) मुंबई - 97. टे.नं.: (022) 28829249

प्रथमावृत्ति (हिन्दी में) : प्रत १०००

पर्युषण पर्व, वि.सं. २०६१

ई.स. १ सप्टेम्बर, २००५

मूल्य : 'परम विनय' सहित स्वाध्याय

Composing & Printing

Raj Graphics (Rina Shah)

302, Baronet Complex, Opp. Police Station, Highway Rd.,

Sabarmati, Ahmedabad - 380 005. Tel.: 2757 4476.

ॐ

सहजात्म स्वरूप परमगुरु

स
वि
न
य

स
म
र्पि
त

श्रीमद् राजचंद्र प्रभु

जन्म

ववाणीया (सौराष्ट्र), गुजरात.
वि.सं. १९२४, कार्तिक शु. १५

देहविलय

राजकोट (सौराष्ट्र), गुजरात.
वि.सं. १९५७, चैत्र कृष्ण ५

ॐ

तत् सत्

प्रकाशकीय

हमारा परम सौभाग्य है कि सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत मोक्षमार्ग का जिर्णोद्धार वर्तमानकाल में परम ज्ञानी श्रीमद् राजचन्द्रजी ने किया है। उन्हीं के पदचिन्हो पर चलकर आत्म-साधना का मार्ग श्रीमद् लघुराजस्वामी (पू. प्रभुश्रीजी) जैसे समर्थ शिष्योंने प्रकाशित किया है। पू. प्रभुश्रीजी के आज्ञांकित शिष्य पू. ब्र. गोवर्धनदासजी ने भी ज्ञान-ध्यान-वैराग्य की प्रबल आराधना करके हमारे लिए ज्ञानी की भक्ति का और साधना का पथ सरल-सुबोध और भावपूर्ण शब्दोमें समझाया है। सत्पुरुष की भक्ति कैसे करें? और सत्पुरुष के बताये मार्ग पर कैसे चलें? इसका आबेहूब वर्णन पू. ब्रह्मचारीजी ने अपने जीवन एवं वचन के माध्यम से अलौकिक रीति से दर्शाया है। ऐसे साधक-धर्मात्माके वचनों को हिन्दी भाषामें अनुवादित करके प्रस्तुत ग्रन्थका प्रकाशन किया गया है। हिन्दी भाषी प्रान्त के साधक-मुमुक्ष जीवों को साधना में उपयोगी जानकर प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन **आचार्य भगवंत श्री जनकचन्द्रसूरीजी महाराज एवं श्री धर्मरत्नजी महाराज** की प्रेरणा से किया गया है। इस पुनीत प्रेरणा को क्रियान्वित करने का श्रेय **आदरणीय धर्मस्नेही सुश्री नीलम राजेन्द्र जैन (लुधियाना)** के अर्थ सहयोग को जाता है।

'साधना पथ' का हिन्दी अनुवाद, आचार्यश्री की प्रेरणा से, पंजाबी साध्वी श्री **हर्षप्रियाश्रीजी** ने किया है। इस ग्रन्थ का पूरा संकलन-संपादन प्रभुकृपा से आत्मार्थी श्री **प्रकाशभाई डी. शाह** (अमदावाद) ने अपने आत्महितार्थ किया है। आचार्य श्री की प्रेरणा से उन्होने इस ग्रन्थ के सर्वांग-सुंदर प्रकाशन में निःस्वार्थ भाव से पूरा सहयोग देकर जिनवाणी की उत्तम सेवा की है, जो परम अनुमोदनीय है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में **श्री आत्मवल्लभ मुमुक्ष मंडल, पंजाब** का पूर्ण आर्थिक सहयोग संप्राप्त हुआ है, अतः हम उनके आभारी है।

इस ग्रन्थ के प्रुफरीडींग के कार्य में सम्पादक श्री को मुमुक्ष भाई श्री **नवीनभाई धरमशी** (डोंबीवली-मुंबई) एवं श्री **मितेषभाई शाह** (अमदावाद) का सहयोग मिला है, अतः हम उनके आभारी है।

इस ग्रन्थ के सुंदर कम्पोझींग एवं प्रकाशन में राज ग्राफिक्स की संचालिका मुमुक्ष बहनश्री **रीनाबहन शाह** एवं श्री **अश्विनभाई चित्रोडा** का सुंदर सहयोग प्राप्त हुआ है, अतः हम उनके आभारी है।

धर्मस्नेही,
श्री मनुभाई प्रेमचंद शाह,
श्रीमद् राजचन्द्र निजाभ्यास मंडप
तथा
विहार भवन ट्रस्ट
अमदावाद - वडवा - ईडर

श्रीमद् राजचन्द्र निजाभ्यास मंडप तथा विहारभवन ट्रस्ट,
अमदावाद - वडवा - ईडर

१. श्री मनुभाई प्रेमचंद शाह (प्रमुख)
२. श्री मनुभाई माणेकलाल शाह (सेक्रेटरी)
३. श्री चंपकभाई वाडीलाल शाह (ट्रेझरर)
४. श्री दिनेशभाई जंयतिलाल शाह (जो. सेक्रेटरी)
५. श्री हिंमतभाई पूंजाभाई शाह (ट्रस्टी)
६. श्री अरविंदभाई पोपटलाल शाह (ट्रस्टी)
७. श्री सुप्रिमभाई प्रविणभाई शाह (ट्रस्टी)

ॐ

तत् सत्

संपादकीय

गुरुभकित, दृढ निष्ठा और समर्पण की जीवन्त प्रतिमा अर्थात् ब्र. **श्री गोवर्धनदासजी**। श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास के प्राण एवं प्रणेता प.पू.श्री लघुराजस्वामी (प्रभुश्रीजी) के चरणों की सेवा के माध्यम से परमकृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी के प्रति सर्वापर्णभाव रखकर आत्मकल्याण करनेवाले और कायोत्सर्गपूर्वक उत्तम समाधिमरण साधनेवाले महान आत्मा हैं - पू. ब्र. श्री गोवर्धनदासजी। प. पू. प्रभुश्रीजी उनको **'ब्रह्मचारीजी'** जैसे पवित्र आचारसूचक नाम से संबोधित करते थे।

अगास आश्रम के संत प. पू. प्रभुश्रीजी के प्रथमवार के ही दर्शन-समागम से उनके जीवन में पूर्वभवों के उत्तम संस्कार जाग उठे और संत के सानिध्य में उनकी आत्मा पहुँच गई। संत-सानिध्य के बेहद सामर्थ्य का उनकी पवित्र आत्मा ने अनुभव किया और सेवा-सद्गुण-साधना के माध्यम से मनुष्यभव सफल किया। सुपात्र-संस्कारी आत्मा को ज्ञानी का प्रत्यक्ष समागम कितना लाभदायी होता है, वह तो उन की खुद की आत्मा ही जान सकती है, फिर भी उन के जीवन के अनुभव और वचन दूसरों को भी उतने ही उपकारी हो सकते हैं।

पू. ब्र.जीने बी.ए. जैसी उच्च्व डिग्री उस जमाने में अर्जित की थी, आणंद की स्कुल में अध्यापन कार्य भी किया था और आचार्यपद तक पहुँचे थे; फिर भी संत-समागम से उनकी आत्मा में अजब का रूपान्तरण हुआ, संसारी-गृहस्थ जीवन का सहज त्याग हुआ और उनकी आत्मा एक समर्पित साधक बन गई।

पू. ब्र.जी में गुरुभकित, विनय-विवेक-वैराग्यभाव एवं आत्म-अनुभव की लगनी जैसे उत्तम सद्गुण भरे पड़े थे। उनका शास्त्र-अभ्यास और क्षयोपशम भी अद्भुत था। उनमें श्रुतज्ञान और गुरुभकित का बेजोड़

समन्वय था। ऐसे बड़भागी साधक आत्मा के चरणो में कोटि-कोटि वंदन हो! उनके जैसे सद्गुण हमें भी संप्राप्त हो! उन के जैसी साधना-निष्ठा हमें भी संप्राप्त हो!

पू. ब्र.जीकी वचनशैली, लेखनशैली सरल-सहज और हृदयग्राहक थी। उनके साधकोपयोगी वचनों का यह संकलन संपादित करके हमें अति प्रसन्नता हो रही है, हमारा उसमें उत्तम स्वाध्याय हुआ है। **श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास** से गुजराती में प्रकाशित **'बोधामृत'** भा.१, २ और ३ के आधार से इनका संकलन-संपादन हुआ है, अतः हम आश्रम के आभारी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ गुजराती से हिन्दी में अनुवादित है। मूल सत्पुरुष के हृदय का एवं भाषा का भाव बना रहे, ऐसा प्रयत्न गुरुकृपा से किया है। फिर भी कोई त्रुटि रही हो तो हम क्षमाप्रार्थी हैं।

पू. ब्र.जी के वचन प्रत्येक मुमुक्ष-साधक को परम प्रेरणादायी हैं। दो वर्ष पूर्व एक ऐसा ही ग्रन्थ **'साधना मार्ग'** (हिन्दी एवं गुजराती दोनों भाषाओं में) पू. प्रभुश्रीजी के **'उपदेशामृत'** ग्रन्थमें से ही संपादित करके हमने प्रकाशित किया था, जो मुमुक्ष वर्ग में काफी उपयोगी एवं प्रचलित हुआ था। उसी श्रेणी में यह दूसरा ग्रन्थ है, जो मुमुक्ष-साधक को साधना में अति उपयोगी पाथेय देनेवाला है, अतः इसका नाम **'साधना पथ'** रखा है। मूल पुस्तक गुजराती **'बोधामृत'** के पेज नंबर भी साथ में दिये गये हैं, जिस से उसका मूल स्त्रोत साधक को ज्ञात हो सके।

ज्ञानी का प्रत्युपकार कभी चुकाया नहीं जा सकता, तथापि यह लघुग्रंथ **ज्ञानावतार श्रीमद् राजचंद्रजी** के पावन करकमलों में समर्पित करके कृतार्थ होते हैं। सब का मंगल हो! सब का कल्याण हो!

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

लि. संतचरणरज, दासानुदास, आत्मार्थी
प्रकाश डी. शाह का
आत्मभाव से वंदन

प. पू. ब्र. श्री गोवर्धनदासजी का संक्षिप्त जीवन चरित्र

जन्म	:	जन्माष्टमी के दिन, वि.सं. १९४५।
जन्म स्थळ	:	बांधणी गाँव (पेटलाद के पास), गुजरात।
जन्म नाम	:	गोवर्धन। श्री कृष्ण के जन्मोत्सव के दिन उनका जन्म हुआ था, अतः श्री कृष्ण के दूसरे नाम गोवर्धनधर के नाम से उन का नाम गोवर्धन रखा गया था।
माता	:	भक्तहृदयी जीताबाई।
पिता	:	श्री कृष्णभक्त श्री कालिदास द्वारकादास।
अभ्यास	:	पेटलाद में से मेट्रिक; बरोडा से ईन्टर आर्ट्स; ईस्वी सन् १९१४ में, विल्सन कॉलेज, मुम्बई से बी.ए. पास किया।
आदर्श शिक्षक	:	ईस्वी सन् १९१५ में चरोतर एज्युकेशन सोसायटी में स्वयंसेवक के रूपमें; ईस्वी सन् १९२०-२१ में डी.एन. हाईस्कूल, आणंद में हेडमास्टर रहें। वहीं आचार्य बनें।
संत मिलन	:	वि.सं. १९७७ की दीपावली की छुट्टियोंमें, अगास आश्रम स्थित प.पू.प्रभुश्रीजी (संतश्री लघुराजस्वामी) के प्रथम दर्शन हुए, धन्य हुए। कालीचौदश के दिन पू.प्रभुश्रीजी ने ब्र.जी. को स्मरण-मंत्र दिया और बोलें कि, 'ऐसा स्मरण-मंत्र आज तक हम ने किसी को नहीं दिया।'
गृहस्थ जीवन	:	मात्र तेरह साल की उम्र में शादी-विवाह। लग्न के बाद कुछ साल में ही पत्नी का वियोग। दूसरा लग्न नहीं किया।
ब्रह्मचर्य दीक्षा	:	वि.सं. १९८१ में, पू.प्रभुश्रीजी की आज्ञा लेकर, आश्रम में रहने चले गएँ। पू.प्रभुश्रीजी को जीवन अर्पित किया। एक ही पुत्र की जवाबदारी बड़े भाई को सौंप दी और खुद ने पू.प्रभुश्रीजी से 'ब्रह्मचर्य दीक्षा' अंगीकार की। पू. प्रभुश्रीजी उन्हें 'ब्रह्मचारी' नाम से संबोधित करते थे, अतः वे उसी नाम से जाने गये - प्रचलित हुएँ। पूरे दिन पू.श्री प्रभुश्रीजी की सेवा में रहते और साथ में सत्संग-स्वाध्याय-भक्ति में लीन रहते।

गुरुगम की प्राप्ति : वि.सं. १९८२ में उन की योग्यता देखकर पू. प्रभुश्रीजी ने उन्हें **समाधिशतक** ग्रंथ पढ़ने के लिए दिया। वि.सं. १९८८ में उपरोक्त ग्रन्थ के गहन अध्ययन-मनन के बाद, पू.प्रभुश्रीजी से उन्हें **'गुरुगम'** की प्राप्ति हुई।

वि.सं. १९९२, चैत्र सुद पांचम के दिन प.पू.प्रभुश्रीजी ने उन्हें **'धर्म'** सौंपा। **'धर्म'** का उत्तरदायित्व दिया।

स्वरूप प्राप्ति : वि.सं. १९९६, वैशाख वदी नवमी के दिन, गुरुकृपा से अभेद स्वरूप की प्राप्ति हुई; जो उनकी निष्काम प्रेम-भक्ति और अविरत ज्ञान-ध्यान-वैराग्य की साधना का फल था।

साहित्य सर्जन : प्रवेशिका, श्रीमद् राजचन्द्र जीवनकला, श्रीमद् लघुराजस्वामी जीवन-चरित्र, प्रज्ञावबोध, समाधि-शतक विवेचन, आत्मसिद्धि विवेचन, मोक्षमाळा विवेचन, आठ दृष्टि सज्झाय विवेचन, आत्मसिद्धि का अंग्रेजी भाषांतर, कृपालुदेव के पदों का विवेचन एवं कृपालुदेव के पत्रों का विवेचन। कुछ ग्रंथो की पद्यरचना भी उन्होंने की हैं। उन का सभी साहित्य श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास से प्रकाशित हुआ हैं।

तीर्थ यात्रा : सम्मेतशिखरजी, शत्रुंज्य, गिरनार, श्रवणबेलगूल, ईडर, आबू, चरोतर, मारवाड़ और दक्षिण के तीर्थों की यात्रा उन्होंने सकल संघ के साथ की थी।

चित्रपट स्थापना : उनके सान्निध्य में प.पू.प्रभुश्रीजी के रंगीन चित्रपट की स्थापना अगास में वि.सं. २००९ में हुई थी।

काविठा, धामण, आहोर, भादरण, सड़ोदरा ईत्यादि स्थलों में, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रमों में चित्रपटों की स्थापना उनके पावन सान्निध्य में हुई थी।

समाधि-मरण : वि.सं. २०१०, कारतक सुद सातम के दिन शाम को, परमकृपालुदेव श्रीमद् राजचन्द्रजी के चित्रपट के सन्मुख कायोत्सर्ग-ध्यान में, समाधिभाव से, उन्होंने अगास आश्रम के राजमंदिर में देहत्याग किया। पवित्र पुरुष ने, पवित्र भावों के साथ, पवित्र स्थल से, पवित्रता की पूर्णता के लिए प्रयाण किया।

ऐसी भव्यातिभव्य आत्मा को हम सब का कोटि-कोटि प्रणाम! हमें भी ऐसा समाधि-मरण मिलें!

(प्रकाश शाह)

साधकोत्तम गुरुभक्त

पू. ब्र. श्री गोवर्धनदासजी

प्रणीत

साधना पथ

(बोधामृतसार)

• संकलन - संपादन •

आत्मार्थी श्री प्रकाश डी. शाह, अमदावाद.

• हिन्दी अनुवादिका •

पंजाबी साध्वी श्री हर्षप्रियाश्री महाराज

(प्रेरक - आचार्य श्री जनकचन्द्रसूरिश्वरजी महाराज)

नम्र अरज

इस पवित्र ग्रन्थ की असातना,
अविनय न हो इसकी पूरी
सावधानी रक्खें।

वाचकों को निवेदन

पाठन्! में आज तुम्हारे हस्तकमल में हूं। मुझे यत्नापूर्वक पढ़ना। मेरे कहे तत्त्व को हृदय में धारण करना। में जो जो बात कहूं, वह विवेक से विचारना। ऐसा करोगे तो तुम ज्ञान, ध्यान, नीति, विवेक, सद्गुण ओर आत्मशान्ति प्राप्त कर सकोगे।

आप जानते होगें कि कई अज्ञानी मनुष्य नहीं पढ़ने योग्य पुस्तकें पढ़ कर अपना समय खो देते हैं और उल्टे रास्ते चढ़ जाते हैं। इस लोक में अपकीर्ति पाते हैं, पर लोक में नीच गति में जाते हैं।

आपने जो पुस्तकें पढ़ी हैं, और अभी जो पढ़ रहे हो, वे मात्र संसार की हैं; परंतु यह पुस्तक तो भव परभव दोनों में आपका हित करेगी। भगवान के कहे वचनों का इसमें थोड़ा उपदेश हैं।

इस पुस्तक की किसी तरह भी आशातना करना नहीं। इसे फाडना नहीं, दाग लगाना नहीं या बिगाड़ना नहीं। विचक्षण पुरुषोंने कहा है कि विवेक से सब काम लेना। विवेक में धर्म हैं।

आपको एक यह भी निवेदन है कि जिन्हे पढ़ना नहीं आता, उनकी इच्छा हो तो उन्हे यह पुस्तक पढ़कर सुनाना।

आपको कोई बात समझ न आएँ तो ज्ञानी पुरुष से समझ लेना। समझने में आलस या मन में शंका नहीं करना।

आप के आत्मा का इससे हित हो, आपको ज्ञान, शांति और आनंद मिले, आप परोपकारी, दयालु, क्षमावान, विवेकी ओर बुद्धिशाली बनो, ऐसी शुभकामना अर्हत् भगवान से कर के यह पाठ पूरा करता हूँ।

- श्रीमद् राजचंद्र

('मोक्षमाला')

साधना पथ

(१) बो.भा.-१ : पृ.-१०

सत्य बोलने की आदत डालना। सत्य बोलनेवाले को बिना वजह दिन-भर बोलना नहीं, मौन धारण करना। (चारों प्रकार की) विकथा का त्याग करना या वैसी बातों में अनुमोदन नहीं देना। वैसा करने से झूठ बोलने का प्रसंग आ सकता है। सन्तोष, बहुत उत्तम है। सन्तोषी व्यक्ति सत्य बोल सकता है। सन्तोषी व्यक्ति की महत्ता का पार नहीं हैं।

(२) बो.भा.-१ : पृ.-११

जब आत्मा जागृत हो जाएँ और अपनी आत्मा का ही कल्याण करने का अन्तर में निश्चय हो जाएँ, तब बलवीर्य स्फुरायमान होता है, कर्म का जोर नहीं चलता, तभी ज्ञानीपुरुषों का कथन समज़ में आता है। अन्यथा, एक कान से सुना और दूसरे से निकल जाता है। अतः रुचि जागृत करने की प्रथम जरूरत है। उसके बाद ही ज्ञानीपुरुष आगे बढ़ने के लिए जो उपाय बताएँ वह प्रतीत में आएँ, तो आत्मा बलवान होकर आगे ही आगे बढ़ती जाती है। फिर प्रमाद का भी कोई जोर नहीं चलता। परमकृपालुदेव सोते सोते भी कुछ न कुछ बोलते रहते थे। शरीर को तो जब न चले, तब ही आराम देना। शेष समय पुरुषार्थ करते रहना। नींद न आ रही हो, तब जबरदस्ती लाने की कोशिश न करते हुए विवेक करें कि अच्छा हुआ, पुरुपार्थ हो सकेगा। देह हो, तब तक उसकी अंतिम पल भी उपयोग में लेनी हो, तो ले सकते हैं। स्वस्थ शरीर हो तव स्मरण का इतना अभ्यास कर लेना, कि मृत्युशय्या पर भी काम आ सके। खराब कर्मों का फल भी आकर खड़ा रहता है, तो यह तो सत्य वस्तु है, तो क्यों न उपस्थित हो सके? यह जीव इतना मोहाधीन है उसे समय की जरा भी

किंमत नहीं हैं। यदि विचार करें तो एक पल भी अमूल्य रत्नचिंतामणि से भी विशेष मूल्यवान है।

शरीर प्रकृति नरम रहती हो तब उसमें एकाकार वृत्ति न होने देना। बुखार आया हो तब विचार करना कि देह गर्म हो गई है, वह बुखार जाने के बाद स्वयमेव ठंडी हो जाएगी। मात्र दृष्टा बने रहना, जिससे समता बनी रहेगी। मृत्यु आए तो आत्मा कहाँ मरती है? वह तो त्रिकाल नित्य है। देहको 'मेरी' मानी कि दुःख आया ही समझो। अतः ममत्व निकाल देना। जो होता है शरीर को होता है, उसे देखते रहना। जैसे वस्त्र जीर्ण होने पर बदल देते हैं, उसी तरह मृत्यु आने पर एक देह छोड़ देने पर दूसरी देह मिलती है। आत्मा मरती ही नहीं। रोग आने पर कोई दवा करनी पड़े तो कर लेना परन्तु लक्ष्य न चूकना। जो होता है अच्छे के लिए ही होता है, ऐसी बुद्धि करना, जिससे भेदज्ञान हो। जैसे श्री नेमनाथ भगवान के पास जाकर गजसुकुमार ने कहा, कि मुझे मोक्ष जल्दी इसी भव में मिले, ऐसा मार्ग बताओ। तब भगवान ने स्मशान में जाकर काउसग्ग करने को कहा। उसने वैसा किया तो ससुर को क्रोध आने से गीली चिकनी मिट्टी लेकर सिर पर क्यारी बनाकर दहकते अँगारे भर दिए। तब गजसुकुमार मुनि ने उस पर जरा भी क्रोध न किया और विवेक पूर्वक विचार किया "यदि मैं इसकी पुत्री के साथ शादी करता तो यह मुझे कपड़ेकी पगड़ी बाँधता, जो फट जाती और संसार भ्रमण करना पड़ता। यह तो बहुत अच्छा हुआ कि इसने मोक्षरूपी पगड़ी बाँधी"। इस तरह चिंतन करते केवल ज्ञान पाकर मोक्ष गए।

पूर्व में मुनि भगवन्त शरीर को कष्ट देकर तपस्या करते थे। सूर्यताप में आतापना लेते थे। सर्दी में वस्त्र रहित होकर काउसग्ग करते थे, वह इसलिए कि मरण के प्रसंग पर यदि वेदना आए तब समभाव रहे। सहन करने का पहले से ही अभ्यास डाला हो तो कैसे भी दुःख में सहनशीलता बनी रहती है। अन्यथा ऐसे प्रसंग पर कुछ भी याद नहीं आता।

पर वस्तु का जीव को मोह, दुःखदायी ही है। ज्ञानी पुरुषों ने तो एक आत्मा के अलावा सब पुद्गल ही देखा है। आज जो रत्न दीखता हो तो वह भी बाद में विष्टारूप हो जाता है। शरीर की फोटो लें तो वह अच्छी दिखती है, पर एक्सरे से फोटो ली हो तो हड्डियाँ ही दिखें और उस में मोह नहीं होता है। वैसी ही ज्ञानीपुरुषों की दृष्टि होती है। उन्हें मोह होता ही नहीं, क्योंकि वस्तु का स्वरूप यथातथ्य देखा है।

(३) बो.भा.-१ : पृ.-१३

स्त्रियों पर कीसी भी प्रकारका विश्वास रखना नहीं चाहिए। स्त्री का शरीर महा अशुचिमय है। उसमें मोह करने जैसा कुछ भी नहीं है। मानव को उसके मुख, बाल और शरीर देखकर मोह होता है, परन्तु उसमें रमणीयता न मानकर, चमड़ी के अन्दर छिपे अशुचिमय पदार्थों का विचार करना। बालों में क्या सुंदरता हैं? उसके मूल को देखें तो ग्लानि होती है। मुख उपर से सुंदर दिखता है, पर सुगंधीदार पदार्थ खाकर मुख को सुगंधमय रखने पर भी मुँह दुर्गन्धमय होता है। शरीर, चमार के घर की मशक जैसा है, अन्दर दुर्गन्धी पदार्थ भरे हैं। योनिस्थान है, वह दुर्गंधमय रस, लहू झरने का स्थान है। शरीर में से भी पसीना निकलता रहता है।

स्त्री के नेत्रों में शीतलता मानी जाती है, परन्तु उसके कटाक्ष मनुष्य को अग्नि की ज्वाला की तरह जलानेवाले हैं। उसका बोलना मधुर लगता है, परन्तु वह विष तुल्य है। उसका समागम मृत्यु समान दुःखदायी है। महात्मा पुरुष, जिन्होंने समकित प्राप्त किया है और निरंतर आत्म-स्मरण में मग्न रहते हैं उन्हें भी स्त्री का संसर्ग महा अनर्थकारक हैं, महा प्रयत्न से प्राप्त किया आत्मधन क्षण मात्र में नष्ट कर सकते हैं। सत्पुरुषों द्वारा मिले महामंत्र का जो निशदिन रटण करता रहता है, उसे भी स्त्री का संसर्ग, उस मंत्र को क्षण मात्र में विलय करके जन्मांतर में भी उस मंत्र का उदय न होने दे।

स्त्री में ऐसी मोहिनी है कि प्रथम जीव को उसे देखने का मन होता है, फिर उस से वार्तालाप करने का मन होता है, फिर अपने यश, कीर्ति को धूल में मिलाने के लिए निर्लज्ज बनता है, फिर भ्रष्ट होकर अपना लोक-परलोक बिगाड़ता है। अतः जिस मनुष्य को अपना हित करना है, उसे स्त्री तरफ दृष्टि भी नहीं करनी चाहिए। उसके अंगो का निरीक्षण नहीं करना और उसके संसर्ग में कभी आना नहीं चाहिए। स्त्रीओं की कथा भी सुननी नहीं चाहिए। निर्विकारी पुरुषों का संग करें। जैसा संग, वैसा रंग होता है।

"स्त्री में दोष नहीं है परंतु आत्मा में दोष है और उस दोष के चले जाने से आत्मा जो देखती है, वह अद्‌भुत आनंदमय ही है; इसलिए इस दोष से रहित होना।" श्री.रा. ७८

जितेन्द्रिय बनना। प्रथम जिह्वा इन्द्रिय पर काबू पाने की जरूरत है। गरिष्ठ पदार्थों का सेवन नहीं करना। इस शरीररूपी वृक्ष का मूल जिह्वा है। वृक्ष का मूल नीचे होता है और ड़ाली उपर होती है, परन्तु इसका मूल तो उपर है, जहाँ से पूरे शरीर को पोषण मिलता है। आठ कर्मों में मोहनीय कर्म को जीतना कठिन है, पाँच व्रतो में ब्रह्मचर्य का पालन कठिन है। तीन गुप्तिमें मनोगुप्ति का पालन कठिन है और पाँच इन्द्रियों में जिह्वा इन्द्रिय वश करना कठिन है।

सम्यक्त्व अनुभवः

आत्मा के शुभ परिणाम बहुत ही उच्च दशा को प्राप्त करते हैं और उसी में वृत्ति एकाकार हो जाती है। उसके बाद जगत की विस्मृति होने से आत्मा का अनुभव होता है। (आत्मा का शुद्ध परिणाम) उसका वर्णन तो किसी शास्त्र में नहीं है, क्योंकि वह अपने अनुभव की वस्तु है और जीव उस स्थिति पर पहुँचता है, तब ही उसे अनुभव होता है। उसके आनंद का वर्णन नहीं किया जा सकता। प्रथम एक समय मात्र उसका अनुभव हो और मालूम पड़े, फिर तो अनुभव वर्धमानताको पाकर उसका पूर्ण निश्चय हो जाता है। बनारसीदासजी ने भी 'नाटक समयसार' में कहा है कि:-

"वस्तु विचारत ध्यावतें, मन पावे विश्राम;
रस स्वादत सुख ऊपजे, अनुभव याको नाम।"

(४) बो.भा.-१ : पृ.-१८

ज्ञानीपुरुषों की आज्ञा है कि राग-द्वेष का क्षय करो। राग-द्वेष का क्षय करने के लिए ज्ञानीपुरुषों की आज्ञा की आराधना करो। सत्पुरुष के प्रति जीव को जितना प्रेम होगा, संसार के प्रति उतना ही कम होगा। किसी भी पदार्थ पर राग नहीं करना। करना हो तो सत्पुरुष पर करो। हम सत्पुरुष पर प्रेम करते हैं परंतु वे अपने पर प्रेम नहीं करते। अतः एक तरफ का प्रेम अन्त में नाश हो जाता है और जीव सत्पुरुष तुल्य बन जाता है। दुनिया का प्रेम दोनों तरफ का परस्पर होने से संसार में ही भ्रमण कराता है। सत्पुरुष के प्रति प्रेम, संसारका क्षय करानेवाला बनता है। **प्रत्येक वस्तु में से प्रेम उठाकर सत्पुरुष पर करने से सब शास्त्रों का सार हृदय में मालूम होता है। आत्मप्राप्ति का यह खास उपाय है।**

प्रथम तो जीव को कुछ ख्याल नहीं होता, परन्तु सत्पुरुष की आज्ञा जीव को जिस तरह मिली हो, उसी रीति से दृढ़ विश्वास रखकर आराधन करते रहना। चित्रपट में ध्यान रखना, माला गिनने में चित्त रखना, सत्पुरुष के शब्दों में, वचनों में मन को रोकना, अनुक्रम से इस तरह पुरुषार्थ करते हुए जीव आगे बढ़ता है। सत्पुरुष के वचनों का परिणमन होकर ज्ञान की प्राप्ति होती है। क्रम से जो काम होता है, उसका फल आए बिना नहीं रहता। जैसे, चित्रपट आदि में चित्त रखना, वह वृक्ष के मूल को पोषण देने समान है; फिर वचनों में चित्त जाएँ तो पौधा बड़ा होने समान है। उसमें विशेष प्रकार से तल्लीनता आती जाए, वह फूल होने के समान है और परिणमन होकर आत्मप्राप्ति हो, वह फल खाने के समान है। सत्पुरुषों का उपदेश एक ही बात समझाने के लिए अलग अलग प्रकार से होता है। जीव की पात्रता के अनुसार उसे समझ आती रहती है। जो जीव पुरुषार्थी हैं और आगे बढ़ने के क्रम में हो तो, उन्हें हररोज कुछ न कुछ नया ही

मालूम होता हैं। आत्मा सब कुछ जान सकती है, तो वह अपनी बात कैसे न जान सके? वृत्तियाँ ज्यों ज्यों शांत होती जाती हैं, त्यों त्यों स्वयं को विशेष प्रकार से समझ आती जाती है। आत्मज्ञान होनेसे पूर्व, जीवको बहुत भूमिकाओं को पार करना होता हैं। ज्यों ज्यों जीव ऊँची भूमिका पर आता है, त्यों त्यों उसे आनंद आता है।

"वीतराग कथित परम शांत रसमय धर्म पूर्ण सत्य है, ऐसा निश्चय रखना।" (श्री.रा.५०५) परम शांत होना ही धर्म है और उसी का निश्चय दृढ़ता से रखकर शांत बनने का पुरुषार्थ करते रहना। प्रभुश्रीजी के उपदेश में भी यही आया है कि स्वयं को क्या हितकर्ता है और क्या विघ्नकर्ता है, वह प्रथम से ही सोच के जीवन पर्यंत सत्पुरुषार्थ करते रहना। इस मानवभव में स्वयं को क्या करना है, उसका लक्ष्य कर लें। प्रभुश्रीजी कहा करते थे कि **"मत चूके चौहाण।"** इस तरह वे अपने को हर वक्त जागृत रहने का उपदेश देते थे। **"भरत चेत। भरत चेत।"** यों बारम्बार कहा करते थे। एक व्यक्ति सो रहा हो और जगानेके लिए दो तीन आवाज़ देनेसे जाग जाता है, वैसे ही सत्पुरुष के उपदेश बारम्बार जीव को सुनने में आएँ तो जागृति बढ़ती जाएगी। अतः सत्संग करते रहने से जरूर लाभ होगा।

ज्ञानीपुरुष के माहात्म्य का जीव को जब तक लक्ष न हो, तब तक आत्मा में प्रफुल्लितता नहीं आती :-

"अचिन्त्य तुज माहात्म्यनो, नथी प्रफुल्लित भाव;
अंश न एके स्नेह नो, न मळे परम प्रभाव।" - बीस दोहे

ज्यों ज्यों ज्ञानीपुरुष की जीव को पहचान आती जाती है, त्यों त्यों आत्मा तद्‌रूप बनता जाता है। पानीके नल की तरह, एक पाइप दूसरी पाइप से जुड़े और पानी एक पाइप में से दूसरी में जाने लगता है, वैसे ही आत्मा का प्रवाह तद्‌रूप होने लगता है। मात्र जुड़ने की जरूरत है।

यह जीव बाह्य दृष्टिवाला हो तब तक जिस पदार्थ को भी देखे, उसे सच्चा मान लेता है, परंतु देखनेवाला देह में बैठा है, उसका लक्ष नहीं है। जो दिखता है, वह तो पुद्‌गल है। पुद्‌गल का आना और जाना निरंतर इस देह में होता है, परन्तु अपने को कहाँ पता लगता है? बचपन में जिन परमाणुओं का शरीर था उनमें से अब कोई भी नहीं है पर स्वंय को तो, "मैं तो हूँ। वही का वही हूँ।" ऐसा लगता रहता है। सर्वत्र पुद्‌गलों का सीधा उल्टा होना, नियमितरूपसे होता ही रहता है।

"पुद्‌गल खाणो, पुद्‌गल पीणो, पुद्‌गल होंति काय,
पुद्‌गल को सब लेणो-देणो, पुद्‌गल में ही जाय
संतो देखिए बे परगट पुद्‌गल जाल तमासा।" (श्री चिदानंदजी)

प्रभुश्रीजी इस तरह बहुत बार कहते थे। पुद्‌गल की जाल में से निकलना बहुत विकट है। ज्ञानी का आश्रय हो, तभी छूट सकते हैं। समुद्रमें पानी होता है, उसकी भाँप बनकर बादल बनते हैं, आँखों से वह दिखते नहीं, पर बादल बनकर बरसते हैं, यह बात सत्य है। वैसे ही यह शरीर कर्मों द्वारा ही बना है और जीव कर्म की वर्गणा बाँधते रहेगा, तब तक शरीर का योग रहेगा। पुराने कर्म भोग रहे हैं और नये बाँध रहे हैं। नये कर्म न बंधे, ऐसी युक्ति यदि हाथ आ जाए तो पुराने कर्मों को भोगते आत्मा मुक्त होती जाएँ। अतः ऐसी समज लाने की जरूरत है। छोटा बच्चा बेसमझ हो, क्रोध करता हो, जिद करता हो परन्तु बड़ा होने पर समझ आ जाए तब व्यापार आदि अच्छी तरह करता है। अपलक्षण भूलकर अपना कर्तव्य संभालता है। वैसे ही यदि यह जीव सत्पुरुष की आज्ञा मानें, तो ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में जा सकता है। इसीलिए यह मनुष्यभव है। दूसरे किसी भव में नहीं हो सकता। सम्यग्दृष्टि जीव भी दूसरे भव में कोई विशेष धर्माराधना नहीं कर सकते। इसीलिए मानवभव उत्तम कहा हुआ है। जिसका भाग्य पूर्ण होगा, वह सावधान हो जाएगा।

"बीस दोहे" भावपूर्वक बोले जाएँ तो सब दोष क्षय होकर आत्मा निर्मल बन सकती है। ज्ञानीपुरुष के वचन, मुँह से बोले जाएँ पर विचार न आएँ तो किस काम के? जैसे,. "हे भगवान, मैं बहुत भूल गया।" क्या भूल गया? यह विचार आएँ तो ज्ञानीपुरुषों को आगे क्या बताना हैं, उसका लक्ष हो। फिर तुरन्त ही यह बताया है कि "मैंने आपके अमूल्य वचनों को लक्ष्य में नहीं लिया।"

ज्ञानीपुरुष के वचनों का परिणमन इस जीव को यदि नहीं हो रहा है तो उसका विशेष कारण 'लोभ' है। जीव को यदि यह हृदय में बैठ जायें कि मुझे अब लोभ नहीं करना परन्तु आत्म-कल्याण करना है, तो उसे बहुत सारे विकल्प कम हो जाएगें और ज्ञानीपुरुष के वचन अंतर परिणामी बन जाएगें। इस बात का लक्ष होना चाहिए।

जीव यदि पुरुषार्थ करे तो घाती कर्मों का जोर न चलें और वे मुर्दा जैसे हो जाएँ। अपने दोष निकालने का लक्ष्य, खास होना चाहिए। कोई गुण प्रकट हो, तो उसका अभिमान नहीं करना, वैसा करने से पीछे रह जाते हैं। ज्ञानी पुरुष के उपदेश में ऐसा चमत्कार होता है कि जिन जीवों ने उनका आश्रय स्वीकार किया है, बहुमान से उनके वचनों का जो निरंतर चिन्तन-मनन करते हैं, उन जीवों के वे दोष उत्पन्न नहीं होते।

(५) बो.भा.-१ : पृ.-२१

'स्मरण' अद्भुत वस्तु है। स्वरूप प्राप्ति कराने तथा स्वरूप में स्थिरता करानेवाला है। सारा दिन उसका रटण करनें में आए तो भी नित्य नियम की माला गिनना नहीं छोड़ना। जिसको अमूल्य समय की क्षण भी जाने न देनी हो, उसके लिए 'स्मरण' अपूर्व वस्तु है। कुएँ में पड़े हुए डूबते मनुष्य के हाथ में रस्सी आए तो वह डूबे नहीं। वैसे ही 'स्मरण' संसार समुद्र में से बचानेवाली वस्तु है।

(६) बो.भा.-१ : पृ.-२१

विशुद्धभाव अर्थात् चित्तप्रसन्नता अथवा मन की स्थिरता। कषाय मंदता में चित्त क्षोभ नहीं होता, अतः आनंद आता है। आत्मा आनंदरूप है। जब चित्तप्रसन्नता हो तब मंत्र का स्मरण करना बहुत लाभ का कारण है। कषाय का निमित्त न हो तो वैसे भाव ज्यादा समय तक टिक सकते हैं। आनंदघनजी के स्तवन में भी यही आता है :-

"चित्त प्रसन्ने रे पूजन फल कह्युं रे, पूजा अखंडित एह,
कपट रहित थइ आतम अरपणा रे, आनंदघन पद रेह।" (आ.-१)

परमकृपालुदेव ने भी **'यम नियम'** में कहा है कि ऐसे भाव मोक्ष के कारण हैं। ऐसे जीवों का निश्चय मोक्ष होना ही हैं।

"पर प्रेम प्रवाह बढ़े प्रभु सें, सब आगम भेद सुउर बसें,
वह केवल को बीज ज्ञानी कहे, निजको अनुभौ बतलाई दिये।"

विशुद्धभाव की वर्धमानता हो, ऐसा पुरुषार्थ करना है। कर्म बीच में आएँ तो भी लक्ष यही रखना। निमित्त अच्छे रखना, क्योंकि जीव की वृत्ति निमित्ताधीन हो जाती है। यदि आत्मा में बल आए तो निमित्त कुछ नहीं कर सकते। फिर तो सहजता से परिषह सहन हो सकते हैं। अतः एकांत का सेवन अधिक करना। मन को जीतने में अठारह विघ्न-दोष 'मोक्षमाला' में कहे हैं, वे लक्ष में रखना। बारह भावना से मन को भावित करना। दर्शनमोह जाने के बाद चारित्रमोह सहजता से दूर हो जाता है। दूसरी दृष्टि में कहा है उस अनुसार उचित वर्तन हो, तो वह उत्तम है। श्रद्धा वर्धमान हो तो वीर्य स्फुरायमान हो। श्रद्धा नींव है।

(७) बो.भा.-१ : पृ.-२२

जीव को श्रद्धा सत्पुरुष पर लानी चाहिए। स्वयं ने आत्मा देखी नहीं, पर सत्पुरुष ने देखी है और कही है, वैसी ही मेरी आत्मा है। ऐसी श्रद्धा से आत्मा को जानने की इच्छा रखें तो समय आने पर उसे आत्मदर्शन होता है। शरीर मैं नहीं हूँ, वह तो जड़ है; उसे जाननेवाला हूँ,

मैं चैतन्य हूँ, शरीर मेरा स्वरूप नहीं है। मुझे रोग नहीं, शोक नहीं। उसके विकल्प नहीं करना । ये तो कर्म हैं, आकर चले जानेवाले हैं, नाशवंत हैं। मेरा नाश नहीं है। ज्ञानी ने आनंद स्वरूप देखा, वह मैं हूँ। मुझे तो बँधे हुए को छुड़ाना है, छूटना है। जिससे भी छूटा जाए, वही करना है। परभाव में जाने जैसा नहीं है। शांति मेरा धर्म है, उसे ही पाने का पुरुषार्थ करूँ, वह ही प्राप्त करूँ। यह दिखता है वह मैं नहीं, यह तो जड़ है; कुछ करने को शक्तिमान नहीं है। यह तो मेरे द्वारा देखा जाता है, समझा जाता है। मैं तो आनंदघनस्वरूप हूँ। यह भाव रहा करे, तो वह स्वरूप प्राप्त हो। दुःख-सुख आएँ, तो वह कर्म है, आएगा और जाएगा। मेरा तो एक आत्मभाव ही है और वह मेरे हाथ में हैं। यह भाव अब बँधे हुए को छोड़ने के लिए ही करना है, मुझे तो छूटना ही है। ज्ञानी का कथन मुझे मान्य है, अन्य कुछ मानना ही नहीं। आत्मा नित्य शाश्वत है। ज्ञानी का कथन न मानने से अनादि काल से जीव भटक रहा है। अब सच्चे सद्‌गुरु परमकृपालुदेव मिले हैं, उनका ही मान्य किया मुझे मानना है। मैं देह नहीं आत्मा हूँ, यह लक्ष्य रखकर चलना है। आत्मा को आगे रखना, याद करना, तो आत्महित हो सकेगा।

(८) बो.भा.-१ : पृ.-२३

ज्यों ज्यों सत्पुरुष पर भाव बढ़ता है, त्यों त्यों अनंतानुबंधी कषाय मंद होता जाता है। "उसकी निष्कारण करुणा को नित्य प्रति निरंतर स्तवन करने में भी आत्मस्वभाव प्रगट होता है" (४९३)। महापुरुषों की महिमा जब भी जीव को लगेगी, तब ही गुण प्रकट होगें और दोष दूर होगें। उनके अपूर्व गुण समझ में आएँ तब जीव में अपूर्वता आती है। जगत के भाव जीव छोड़े तो तत्त्व का प्रकाश अंदर से मिले। अतः बहिरात्मभाव छोड़कर साधकभाव से दोष दूर करके भक्ति करनी चाहिए। जीव बहिर्भाव से हटकर परमात्मा के गुणों में भाव करता रहे तो स्वयं परमात्मा बन सकता है। काया और वचन का व्यापार बंद करके मन को अन्दर मोड़ो। अंतर्जल्परूप विकल्प बंद करें तो उपयोग आत्मा तरफ मुड़ता

है, तब ही परमात्मा का स्वरूप प्रकाश में आता है। अपने स्वरूप में रमणता होती है। अंतरात्मा में रहकर साधकभाव से परमात्मा का रटण करें तो परमात्मपद मिल सकता है।

किसी से बात करनी हो तो आत्मा की करो। विचार करना हो, तो आत्मा का ही करो। चिन्तन-मनन भी आत्मा का ही करो। मैं देह नहीं, वह तो जड़ है, कुछ नहीं जानती और कुछ कर भी नहीं सकती, नाशवंत है। दगा देनेवाली है। दृश्य पदार्थो में विश्वास मत रखो, सब नाशवंत है। आत्मा के साथ रहने वाले नहीं हैं।

(९) बो.भा.-१ : पृ.-२३

मैं देह नहीं, आत्मा हूँ। यह भाव ऐसा हो जाना चाहिए कि स्वप्न में भी 'मैं देह नहीं' ऐसा होश रहे। इसके ही लिए पुरुषार्थ करना है। जीव को सत्पुरुष में लय लगनी चाहिए, उनकें वचनों में अटल श्रध्धा आए, उल्लास हो तो कर्म क्षय होते हैं। इस मार्ग के लिए झूरना (दिल का पूरा निश्चय) चाहिए, संसार से मन उठना चाहिए, यह किये बिना छुटकारा नहीं हैं। प्रथम तो जीव को निश्चय कर लेना चाहिए कि मुझे क्या करना है? फिर वहीं जीव जाता है और उसी में ही रहता है, दूसरा कुछ अच्छा नहीं लगता। मैं देह नहीं, आत्मा हूँ। यह निर्णय हुआ कि दर्शनमोह चला जाता है और आत्मा का उपयोग रहता है। यह जड़ सब व्यर्थ है, दगा देनेवाला है, उसे देखते रहो। विकल्प छोड़ने के लिए देहाध्यास छोड़ना चाहिए। जितना वह कम हो उतना जीव को अपनी तरफ मुड़ने का अवकाश मिलता है।

(१०) बो.भा.-१ : पृ.-२३

जीव को बाहर की वस्तुओं में आश्चर्य लगता है, पर सिध्द स्वरूप का आश्चर्य नहीं लगता। उसके अनंत ज्ञान, अव्याबाध, अनंत शाश्वत सुख, अनंत शक्ति आदि अनन्त गुणों का जब आश्चर्य लगेगा, तब उस में प्रेम-रुचि होगी। उसे पाने का पुरुषार्थ कर सकेगा। चाहे अभी वह दशा,

जीव की न हो, पर निश्चय से मैं सिद्ध समान ही हूँ। सिद्ध परमात्मा निरंतर आत्मानंद कैसा भुगतते हैं? यह अन्तर में गहरे जाकर सूक्ष्म विचार से देखा जाए तो अपना मूल स्वरूप जानकर उल्लास आता है। कर्म घटते हैं। **मंत्र का स्मरण करते रहना। मन को भटकते मत रखना। मंत्र का स्मरण करते करते अभी जो समझ नहीं आता, वह आने लगेगा।**

(११) बो.भा.-१ : पृ.-२४

"दर्शनमोह व्यतीत थई, ऊपज्यो बोध जे;
देह भिन्न केवल चैतन्यनुं ज्ञान जो।" श्री.रा. अपूर्व अवसर

देह में व्याधि-पीड़ा होती है तब बेचैनी आती है, घबराहट होती है, वह सब दर्शनमोह के कारण है।

दर्शनमोह अर्थात् रूप, रस, गंध आदि पुद्‌गल का धर्म है और जानना, देखना, स्थिर होना यह जीव का धर्म है, उसमें भेद नहीं रखते हुए तदाकार होना। जैसे मिर्च पुद्‌गल है, उसमें जानने का गुण नहीं, पर जब हम इसे खाते हैं तब आत्मा के ज्ञाता गुण के कारण ही यह जानी जाती है। आहार लेते तीखा, मीठा, खारा, खट्टा आदि पुद्‌गल के गुण में जीव को रागद्वेष होता है, वह चारित्रमोह, दर्शनमोह के कारण होता है। मुर्दे को जलाए तो उसे कुछ नहीं होता पर अंदर चेतन हो तो पता लगता है कि गर्म है, जलता है। वैसे ही देह में पूर्व कर्म अनुसार साता-असाता उत्पन्न होती है, शरीर को उसका पता नहीं। चेतन के कारण सुख-दुःख का पता लगता है। यदि यों विचारें कि देह को जो होता है, उसमें चेतन को कुछ लेना-देना नहीं, तो यह वेदनीय कर्म आकर निर्जर जाता है; क्योंकि वेदनीय कर्म अघाती है, आत्मा को आवरण नहीं करता। परन्तु चेतन को शरीर के साथ अनंत काल से रहने से एकरूपता का अध्यास हो गया है। अतः मुझे दुःख होता है, मैं मर जाऊँगा, सुखी हूँ, दुःखी हूँ आदि तन्मय भाव यह दर्शनमोह है।

जो जो पुद्गल देखने में, सुनने में, खाने-पीने में, सूंघने में, स्पर्श में आते हैं, उनमें आत्मा तन्मय होकर अच्छा-बुरा, प्रिय-अप्रिय, मीठा-कटु, सुवासित-दुर्गंधित, कोमल-कठिन आदि जो पुद्गल का रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श स्वभाव है, उसे अपना मानकर उसमें तन्मय हो जाता है, परंतु सत्पुरुष के बोध से वह पुद्गल अपने से अर्थात् चेतन से भिन्न है, ऐसी समझ आती है; और उसीके अनुसार बारम्बार विचार करके धन, घर, बच्चे, स्त्री व देह आदि अपने नहीं, चैतन्य से भिन्न है, ऐसी समझ आती है। फिर बारम्बार विचारकर ज्ञान = जानना, दर्शन = देखना, चारित्र = स्थिर होना, ये चैतन्य के गुण पुद्गल से बिल्कुल भिन्न हैं। सत्पुरुष के बोध से ऐसा लक्ष्य में रखकर हर प्रकार की सांसारिक क्रिया करते हुए वृत्तिको क्षय करनेसे दर्शनमोह का नाश होता है।

जैसे हम आगगाड़ीमें बैठे हो और साथ वाली गाड़ी चल रही हो, उसकी ओर दृष्टि रखें तो लगता है कि अपनी ही गाड़ी चल रही है, किन्तु दृष्टि घुमाकर प्लेटफार्म की ओर देखें तो अपनी गाड़ी स्थिर लगती है। उसी तरह बाह्य पदार्थ पर दृष्टि रखकर काम करें तो अपने को लगता है, हम सुखी हैं, दुःखी हैं, अमीर हैं, गरीब हैं आदि। इस तरह जैसे संयोग मिले हो, तद्रूप आत्मा हो जाती है। यदि सत्पुरुष के बोध से दृष्टि बदलकर आत्मा की तरफ लक्ष्य रखे तो पता लगता है कि आत्माका स्वभाव स्थिर है। उसमें अन्य जो दिखता है, वह पुद्गलका स्वभाव है। आत्मा को उससे कुछ लेना देना नहीं, तो दर्शनमोह नाश होकर आत्मदृष्टि होते ही आत्मा अपने स्वभाव में स्थिर होती है। सव जो संयोग मिले हैं, वे स्वप्न समान हैं। जैसे निद्रा में स्वप्न आए और सब दिखाई दे, किन्तु जागृत होते ही स्वप्न में जो देखा था, भोगा था, वह सब मिथ्या लगता है। वैसे ही यह बड़ा स्वप्न है। आगे के भवों में जो भोगा होगा, उसमें से कुछ अभी है? और यह आयु पूरी होते ही आँख बंद होगी, तब इसमें से कुछ याद रहेगा? या साथ आएगा? स्वप्न समान सब पड़ा रहेगा। अतः वृत्तियों को बारम्वार पीछे हटाकर मंद करते हुए दर्शनमोह का क्षय होगा।

पहले के जमाने में बच्चों को पढ़ाने के लिए पट्टी पर रेती बिछाकर एक-दो आदि लिखते थे। उसे बनाते-बनाते पट्टी को जरा सी ठेस लग जाए तो रेती एक हो जाती और सब चित्र साफ हो जाते थे। वैसे ही जगत के काम करते हुए आत्मा में चित्र बनते ही स्मरण-मन्त्र याद करनेरूप ठेस मारना और उसे साफ कर देना। ऐसे बारम्बार स्मरणमंत्र **"सहजात्मस्वरूप परमगुरु"** याद करते रहना। दर्शनमोहरूपी जगत के जो जो चित्र बनें, उन्हें सत्पुरुष के स्मरणमन्त्र रूपी बोध से मिटाते जाना। ऐसा करते करते आत्मा अपने स्थिर भावमें आएगी। असाता वेदनीय का भारी उदय हो, तब अधिक बल करके जोरसे स्मरण करना और वेदनीय को कहना कि 'तूं तेरा काम कर, मैं अपना काम करता हूँ।' प्रभुश्रीजी वेदनीय के प्रसंग पर ज्यादा बल से बोध देते :-**"आत्मा का लक्षण 'जानना, देखना और स्थिर होना' है। उसे निरंतर स्मरण में, अनुभव में रखना। फिर भले ही मरण समय की वेदना क्यों न आएँ? परंतु जानूं, देखूं, वह मैं हूँ। दूसरा तो जा रहा है। आत्मा को इसमें कुछ नहीं लगता। नहीं लेना, नहीं देना। जो जो दिखता है, वह जाने के लिए है। आया और चला। वज्र का ताला लगाकर कहना कि जो आना हो, आएँ! मृत्यु आएँ, सुख आएँ, दुःख आएँ, चाहे जो आएँ पर वह मेरा धर्म नहीं हैं। मेरा धर्म तो जानना, देखना और स्थिर होना है। बाकी सब पुद्गल, पुद्गल और पुद्गल। चक्कर आएँ, बेहोश हो जाएँ या श्वास चढ़े, ये सब देह से अलग हो कर बैठे बैठे देखने का मझा आता है, पर जागृत, जागृत और जागृत रहना चाहिए। हाय! हाय! अब मर जाऊँगा। हाय! यह कैसे सहन हो? ऐसा कुछ भी मन में आना नहीं चाहिए। आगे बहुत से महापुरुष ऐसे हो गए हैं कि जिन्हें घाणी में ड़ालकर पीला, पर विभाव में उनका चित्त न गया।"**

दीनबंधु की महेर (कृपा) नजर से सर्व अच्छा ही होगा। नम्र बनकर रहना। अहंकार तो मार ड़ालता है। ज्ञान, आत्मा की देह है।

(१२) बो.भा.-१ : पृ.-२६

मनोवृत्ति का जय करने के लिए जीव को प्रयत्न करना चाहिए। संकल्प विकल्पों में मन जाएँ तो उसे रोकने का उपाय प्रथम समझाना, पर भाव में जाने से रोकना और स्वभाव में जोड़ना। यदि ऐसा करने से न माने तो भक्ति में जोड़ना। मन में बोलते हुए वृत्ति यदि बाहर जाएँ तो उच्च स्वर से बोलना। तथापि न माने तो उससे रुठ जाना। बाहर जाती वृत्तियाँ जहाँ जाएँ वहाँ जाती देखते रहना, तो धीरज से मन का जय होगा।

(१३) बो.भा.-१ : पृ.-२७

जीव ने जो जो कर्म बाँधे हो, वे भोगने से ही छूटेंगें परन्तु समभाव से, समझकर भोगें तो नये कर्म न बँधे। महापुरुष भावदया के अवतार हैं। देहकी दया का उन्हें लक्ष्य नहीं होता। देह का तो प्रारब्ध अनुसार होता है। ज्ञानी का समागम होने पर जीवको देहभाव फिका लगता है। ज्ञानी के बोध से देह के और आत्मा के धर्म, जीव अलग अलग समझता है। देह नाशवंत है, ऐसा जिसे निर्णय हुआ है, वह जीव आत्मा का ध्यान रखता है। देह साधन है, अतः संभालो, पर देहमय मत बने रहो।

'देखतभूली' होती है, वह भूल है। देखनेवाले को देखने की भावना करनी चाहिए। ज्ञानी की आत्मचेष्टा देखने के लिए, अंतर में उतरकर अपनी वृत्ति स्थिर करे, तो धीरज से दिखे। **देखनेवाले को देखने के लिए कषाय की मंदता चाहिए। प्रत्येक में एक आत्मा को देखने का अभ्यास ड़ाले, तो आत्मा दिखता है।** दर्पण के सामने जो हो उसीका प्रतिबिंब पड़ता है। वैसे ही आत्मा में देखने और जानने की शक्ति है। अतः उसमें पर वस्तु के प्रतिबिंब पड़ते हैं, वे देखते और जानते रहें, तब तक बंध नहीं होता; परंतु स्वयं को भूलकर जानने-देखनेके विकल्प करें, वह अज्ञान है। इष्ट-अनिष्ट भावों से बंध होता है। ज्ञानी बँधते नहीं, वे अपने स्वभाव में रहते हैं। सुख-दुःख कर्म हैं आते-जाते हैं, उन्हें जानने वाला रहे तो नए बंध नहीं होते। देह से आत्माको भिन्न सोचते रहना चाहिए। **"पुद्गल रचना**

कारमी जी, तिहां जस चित्त न लीन" **(चौथी दृष्टि)** असंमोह अनुष्ठान करनेवाले महात्मा संसार से विरक्त होने से, आकर्षक होने पर भी एकांत दुःखदायी पुद्गलकी रचना में, उनका चित्त लीन नहीं होता। पुद्गल में आश्चर्य पाने जैसा कुछ नहीं है। आत्मा की अनंत शक्ति में चमत्कार है, उसका निश्चय करे तो जीव को दूसरे पदार्थोंकी महत्ता न लगे।

"स्वभाव में रहना और विभाव से छूटना।" जीव भूल में पड़ा है। अहंकार रहित, लोकसंज्ञा रहित प्रवृत्ति करना। सार समझमें आए तो ज्ञान। ज्ञानी आत्मा है। स्वयं का स्वरूप स्वयं समझ नहीं सकते। ज्ञानी के बोध से विचारे तो शुद्धात्मा का बोध हो। देह एक धर्मशाला है। 'मेरा-मेरा' निकालने से ही छुटकारा होगा। अपनी भूल का पता लगे तो स्वयं ही स्वयंको झटका दें। मान और परिग्रह ने खराब किया है। देह मेरी नहीं, यह सत्य लगे तो अन्य में मोह न हो। संसार नहीं चाहिए, तभी मोक्ष है।

(१४) बो.भा.-१ : पृ.-२८

उपशम, जीव के कल्याण का मुख्य साधन है। परंतु वह उपशम आत्मार्थ के लिए होना चाहिए। आत्मत्व प्राप्त पुरुष के बोध बिना जीव में उपशम आता नहीं। यथार्थ उपशम समझे बिना और उसका आदर किए बिना कोई जीव यथार्थ सुखी हुआ नहीं, होता नहीं और होगा भी नहीं। अतः उपशम भाव को प्राप्त और आत्मत्व प्राप्त पुरुष से उस उपशम को जानकर, पाकर इस मानवभव को सार्थक कर लेना। यह मनुष्यत्व ही उस भाव को साधने का साधन है। मनुष्य जन्म अपनी सच्ची मूड़ी है। **ज्ञानी ने एक आत्मभाव ही करनेको कहा है। आत्मविचार कर्तव्यरूप धर्म है। ज्ञाता (जाननेवाला) मैं हूँ, यह जो दिखता है वह मैं नहीं हूँ, शरीर मैं नहीं। यह बीज ज्ञान है।** आत्माकी सम्भाल रखे तो सुखी हो। ज्ञानी संसारकी बात नहीं करते। आत्मा परमानंदरूप है। समभाव आराधने योग्य है। वह मोक्ष की मिठाई है। 'इसलिए जीव को सर्व प्रकार के मत-मतांतर से, कुलधर्म से, लोकसंज्ञारूप धर्म से, ओघसंज्ञारूप धर्म से उदासीन होकर एक आत्मविचार

कर्तव्यरूप धर्म की उपासना करना योग्य है।'(श्री.रा.प. ३७५) सुख नहीं, वहाँ सुख खोजता है, तो कहाँ से सुखी हो? वैराग्य भाव से संसार दुःखरूप लगे। वस्तु-स्वभाव को पहचानकर, सत्य समझे तो दुःख का कारण न रहे। अतः दुःख नाश का उपाय सच्ची समझ है। जीव व्यर्थ में अहं-ममत्व करके दुःखों की वृद्धि कर लेता है।

(१५) बो.भा.-१ : पृ.-२८

वृत्ति स्थिर होने के लिए स्वाध्याय करना। शरीर प्रकृति नरम हो, तब **'पंचास्तिकाय'** का अध्ययन हो तो वृत्ति स्थिर होकर आनन्द आता है। वृत्ति बाहर जाते देर नहीं लगती। वापिस लाना बहुत कठिन हो जाता है। अतः उसका निरंतर उपयोग रखना। यह जीव प्रमादी हो गया है। खड़ा हो तो बैठ जाता है। बैठा हो तो लेट जाता है। अतः जागृति रखना। भावना का फल परिणाम है, कर्मोंके नाश का साधन भाव है। उल्लसित भाव होने से बहुत कर्म नाश हो सकते हैं। पूज्य प्रभुश्रीजी भाव उपर दृष्टान्त देते थे। "प्रेममें कोई प्रतिज्ञा (नियम), बाधा नहीं पहुँचाती।"

पांचसौ श्लोक का स्वाध्याय हो, तो एक उपवास का फल मिलता है। **'आत्मसिद्धि'** चार बार बोली जाए, तो उपवास जितना तप हो जाता है। वैराग्य दशा गुप्त रखी नहीं जा सकती। एक बच्चा भी यदि उसे अंगूलि देकर वापिस खींच लें तो वह समझ जाता है, तो घर के व्यक्ति कैसे न जानें? अवकाश होते ही घर में भी वाँचन करना और सबको समझाना। परमकृपालुदेव ने व्रत लिया था कि संसार में चाहे कैसे भी क्लेश के कारण आ पड़ें, तथापि असमाधि होने न देना; उस व्रत का जीवनपर्यंत पालन किया। संयम अर्थात् सर्व भाव से विराम पाना। **'स्मरण' अर्थात् विस्मरण न करना। एक एक पल भी जिसको उपयोग में लेनी हो, उसके लिए स्मरण है। मन्त्र का अधिक अभ्यास रखना। परम कृपालुदेव के चित्रपट का दर्शन करने से उनके आत्मस्वरूप का लक्ष्य होता है।**

(१६) बो.भा.-१ : पृ.-२९

क्या करने आया है? और क्या कर रहा है? उसका जीव को ख्याल नहीं। सब लोग पैसा कमाते हैं और उससे मौज-शौक करते हैं, वैसे ही देखा-देखी यह जीव भी करता है। वह विचार नहीं करता कि इसमें से क्या साथ आने वाला है? एक पाई भी साथ आने वाली नहीं। और पैसा कमानें में जो पाप किया होगा, वह जीव को भोगना पड़ेगा। जीव ने जहाँ जहाँ सुख की कल्पना की है, वहाँ वास्तविक सुख है ही नहीं, दु:ख ही है। खाने से यदि सुख मिलता होता तो ज्यादा खाने वाला ज्यादा सुखी होना चाहिए; पर ज्यादा खाने से उल्टा दु:ख ही होता है। आत्मा का सुख इन्द्रियातीत है। आत्मा इन्द्रिय अगोचर है। अर्थात् दिखती नहीं। सद्‌गुरु शरण में, उनकी आज्ञा में रहने से आत्मा अनुभव में आती है।

(१७) बो.भा.-१ : पृ.-६

साता वेदनीय या असाता वेदनीय हो, तो उससे आत्मा के प्रदेश कोई घटते या बढ़ते नहीं। मात्र उस समय सुख या दु:ख लगता है। साता वेदनीय में स्मरण का इतना दृढ़ अभ्यास कर दें कि वेदनीय आए तो स्मरण ही आकर खड़ा रहे। उपयोग बदलते आना चाहिए। यदि ऐसा हो गया, तो फिर वेदनीय में दु:ख लगेगा ही नहीं। महात्मा पुरुषों को उपसर्ग आते हैं, तब वे भी वैसा ही करते हैं। अत: दु:ख नहीं लगता। उपयोग दूसरी जगह हो तो कुछ लग जाए तो भी पीड़ा नहीं होती। वैसे ही साता वेदनीय हो, तब उपयोग आत्मा में रखने का पुरुषार्थ करना है। सावधानी की जरूरत है। आखिर तो साता और असाता दोनों समान ही हैं।

इस जीव ने कई भवों में अपने को दु:खी किया है। अत: इस भव में देह को प्रधानत्व देने योग्य नहीं। रास्ते में चलते कोई शत्रु मिले तो कोई तकरार न हो, वैसी सावधानी से रास्ता पार करते हैं, पर अंतर में से शत्रुत्व का भाव नहीं जाता; वैसे ही देह ने शत्रु का काम किया है। उसके साथ समझकर मात्र काम चलाना है। अंतर में तो भेद ही रखना। इसमें

कभी एकाकार न बनना। असाता में तो मंत्र याद आए तो मंत्र, 'वीस दोहा' याद आएँ तो वह, पर बोलते रहना। दूसरा कुछ अन्दर आने न देना। मानसिक दुःख या शारीरिक दुःख हो किन्तु उपयोग बदलते आना चाहिए, जिससे दुःख मालूम नहीं होवें।

(१८) बो.भा.-१ : पृ.-३१

शास्त्रों में ध्यान के अलग अलग प्रकार बताएँ हैं। उनमें शास्त्र आम्नाय अनुसार वर्णन हो, परन्तु मुख्य ध्यान तो सत्पुरुष के वचनों में चित्त रहे, मंत्र में ध्यान रहे या पुस्तक का वाँचन करें, तो एकाग्रता रहे, वह सब धर्मध्यान ही है। अमुक प्रकार के अमुक आसन से ही ध्यान हों, तभी ठीक, ऐसा कुछ नहीं। कषाय पर संसार का सब आधार है। अंतरात्मा कषाय निवारण का ही कार्य किया करती है। चलते-फिरते इसी में मन रहे तो वह ध्यान ही है। अभ्यास की खास जरूरत है। परमकृपालुदेव को कई भवों का अभ्यास था, तभी सहजता से ध्यान में रहते थे।

(१९) बो.भा.-१ : पृ.-३३

सुख त्याग से मिलता है। त्याग में ही सुख है। इस जीव को ग्रहणबुद्धि में ही सुख लगता है। अतः पहले से विचार करके सुख का मार्ग खोजना। विचार करके निश्चित करना कि सुख क्या है? यथार्थ विचार करने से तो प्रत्यक्ष लगता है कि सुख त्याग में है। इच्छा होती है, यही दुःख है। अतः विवेक से इच्छाओं को हटाना चाहिए।

एक राजा था। वह शास्त्री के पास शास्त्र सुनने जाता था। शास्त्र में आता था कि शास्त्र सुने वह अवश्य मोक्ष में जाता है। इसे सुननेवाले कई मोक्ष गए हैं। सुनकर राजा आनंदित हुआ। ऐसा करते करते दस वर्ष बीत गएँ। राजाने विचार किया कि मोक्ष क्यों होता नहीं? उन्हीं दिनों वहाँ एक आचार्य आएँ। राजाने उनसे पूछा:- "महाराज! मोक्ष क्यों होता नहीं?" आचार्यने कहा, "मोक्षमें जाना भी है या बातें ही करना है?" "ना महाराज, मोक्ष में तो जाना है।" "तो सुबह उस शास्त्री को लेकर

हमारे पास आना।" दूसरे दिन राजा और शास्त्री आएँ। सारी सभा एकत्रित हुई। बाद में आचार्य ने शास्त्री को और राजा को अलग अलग स्तम्भों से बाँध दिया और बोलेः- "शास्त्रीजी इस राजा को बंधन रहित करो।" शास्त्रीजीने कहाः- "महाराज! मैं तो खुद बँधा हुआ हूँ, राजा को कैसे छुड़ाउँ?" फिर राजा को कहाः- "आप शास्त्री को बंधन रहित करो।" राजाने कहाः- "यह कैसे हो सकता है?" तब आचार्य ने कहाः- "दोनों समझ गए हो न?" राजाने कहाः- "खुले शब्दों में कहो तो मुझे पता लगे।" आचार्य ने कहाः- "स्वयं बँधा हुआ किस तरह दूसरे को छुड़ा सकता है? जो बंधन रहित होगा, वही छुड़ाएगा। वैसे ही मोक्ष के लिए जो मोक्ष तरफ चलने लगा है, जो संसार के परिग्रह से, रागद्वेष रूपी कषाय से छूट गए हैं, ऐसे महापुरुष मोक्ष जाने का रास्ता दिखा सकते हैं। और फिर यदि जीव उनके कथन अनुसार आज्ञापालन करे तो अवश्य मोक्ष हो, किन्तु बातें करने मात्र से न होगा।"

(२०) बो.भा.-१ : पृ.-३४

मुमुक्षुः- जीव ध्रुव है या उत्पन्न हुआ है और नाश होनेवाला है?

पूज्यश्रीः- जीव का किसी भी काल में नाश नहीं होता अतः ध्रुव है। जीव एक देह छोड़कर दूसरी देह में जाता है, इस अपेक्षा से वह उत्पन्न भी होता है और इस देह को छोड़ता है, इस अपेक्षा से नाश भी होता है।

जीव का स्वभाव आनन्दस्वरूप है, अनन्तसुखरूप है, तथापि इस बाह्य उपयोग से आत्मा तरफ दृष्टि नहीं होती। बाह्य रूप-रस-गंध-स्पर्श में उपयोग एकाग्र होने से आत्मा का सुख जानने मे नहीं आता। अतः सम्पूर्ण जगत से उपयीग खींचकर एक सत्पुरुष के प्रति लाना, क्योंकि सत्पुरुष आत्मस्वरूप में लीन है और अपना स्वरूप भी वैसा है। त्याग - वैराग्य हो तो जगत में से उपयोग सहजता से आत्मा तरफ झुकता है। अतः आत्मार्थ के लिए त्याग - वैराग्य करने की जरूरत है।

आत्मा दिखता नहीं, तो वह है या नहीं? यदि है तो देह ही आत्मा है या इन्द्रियाँ है वह आत्मा है? या श्वास है वह आत्मा है? सद्गुरु उत्तर देते हैं कि आत्मा देह से भिन्न है, प्रत्यक्ष अलग है। जैसे तलवार और म्यान एक दिखते हैं, पर दोनों प्रत्यक्ष अलग हैं; उसी तरह देह और आत्मा भी प्रत्यक्ष अपने अपने लक्षण से भिन्न है। देह का स्वभाव जड़ है, जानने-देखने का नहीं; और आत्मा का स्वभाव चैतन्य है। जानता भी है और देखता भी है। इन्द्रियों से आत्मा ग्रहण नहीं हो सकती। अतः इन्द्रियोंरूपी खिड़कियों से देखना बंध करके उपयोग को अन्दर लाए तो अनुभव में आ सकती है। ज्ञाता गुण आत्मा का है, वह गुण किसी भी काल में नाश नहीं होता। सदा जानता ही रहता है; अतः नित्य है।

(२१) बो.भा.-१ : पृ.-३५

देह, वह ही मैं हूँ। देह के संबंधी, वे मेरे संबंधी; देह रोगी हो तब मैं रोगी हूँ और जो देह की क्रिया, वह मेरी ही क्रिया है - इसी को ही ज्ञानियों ने मिथ्यात्व कहा है। अब जो समकित करना हो तो इससे उल्टा पाठ पढ़ा जाए कि मैं तो आत्मा हूँ, देह नहीं। देह के संबंधी, वे मेरे संबंधी नहीं। देह के रोग से मुझे रोग नहीं। देह सड़े, पड़े, या नाश हो, उससे मेरा नाश होनेवाला नहीं। ऐसा अभ्यास जब एकतान होकर समय समय पर करे, तब समकित हो। प्रबल पुरुषार्थ किए बिना और जगत से प्रेम छोड़े बिना यह अभ्यास टिकना मुश्किल है। ऐसा विवेक मात्र मानवदेह में ही होता है। अन्य किसी देह में ऐसी भेद बुद्धि करने का विवेक नहीं होता। अतः यह मनुष्य देह है तब तक विवेक रूपी भेद ज्ञान कर लेना चाहिए तो बाद में पछताना न पड़े।

(२२) बो.भा.-१ : पृ.-३५

भगवान महावीर जब दीक्षा लेकर मुनि बने, सर्व आरम्भ-परिग्रह का त्याग किया और साढ़े बारह वर्ष मौनपूर्वक, अनिद्रापूर्वक विचरण किया, उनका आहार अति अल्प था, दो-चार महिनोमें एक बार आहार लेते, इस लिए

उनके पास काफी समय बचता था। यानी फुर्सद में, वे क्या करते होगें? कुछ भी काम नहीं, किसी से बोलना नहीं, खाना नहीं। पुस्तक भी पढ़ना नहीं, और नग्न ही विचरते थे। अतः कपड़ों की भी खटपट (झंझट) नहीं। किसी को बोध भी नहीं देते। तब इतना सारा समय उन्होंने क्या किया?

तेईस तीर्थंकर हुए, उनकी आयु ज्यादा थी और कर्म कम थे। जब कि उन तेईस तीर्थंकर के जितने कर्म थे, उतने एक महावीर भगवान के कर्म शेष थे और आयु बहुत ही अल्प थी। अतः काम ज्यादा और समय थोड़ा था। इससे उन्होंने केवल अपने कर्म खपाने में ही सतत उपयोग दिया। साढ़े बारह वर्ष पर्यन्त मौन और जागृत रहकर घाति कर्म भस्मीभूत करके केवलज्ञान प्रगट किया। अपने सिर तो कितने सारे कर्म होगें, कितना सारा पुरुषार्थ करना पड़ेगा और कितना कर रहे हैं? यह सोचकर पुरुषार्थ उग्र रूप से करना चाहिए।

मुमुक्षु :- इतने सारे कर्म सिर पर हैं, इससे तो घबराहट होने लग जाएँ। ये कर्म का कैसे बंध न हो?

पूज्यश्री :- कर्म बंध के पाँच कारण हैं:- मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। मिथ्यात्व अर्थात् उल्टी समझ। वह सत्पुरुष के बोध से मिटती है। आत्मा निर्विकारी बननी चाहिए।

मुख्य करने योग्य क्या है? भावों की खोज। मेरे भाव कैसे हो रहे हैं? कैसे करने हैं? इसी तरह समय समय अपने भाव को टटोलने का पुरुषार्थ, जीव जो करें, तो अवश्य कल्याण हो।

(२३) बो.भा.-१ : पृ.-३६

पूज्यश्री :- समभाव कैसे आएँ?

"समज सार संसार में, समजु टाले दोष;
समज समज कर जीव ही, गया अनंता मोक्ष।" (बृहद् आलोचना)

समज आएँ तो समभाव सहजता से रहें। समज कैसी चाहिए? सीधी। यह देह, वह ही मैं, यह स्त्री, यह पुरुष, यह पशु, यह घर, यह धन, इस

तरह देहदृष्टि हो गई है। वह यदि मिटे तो सहजता से समज आएँ। विचार करें तो स्वयं को प्रकट प्रतीति हो कि शरीर मेरा मानता हूँ, पर क्षण में इसका रूप बदल जाता है। इस में क्या भरा है? इसमें कैसी वस्तुएँ है? इस तरह यदि विचार करने बैठे तो सब का स्वरूप जैसा है, वैसा ही सद्‌गुरु की आज्ञा से इसे प्रत्यक्ष दिखें। इस तरह यदि वस्तु का सच्चा स्वरूप दिखें तो फिर राग-द्वेष न हो। विचार करने पर समझ आएँ तो समभाव अवश्य हो। मन को सब तरफ से खींचकर सद्‌गुरु की आज्ञा में रखें तो सद्‌विचार प्रगट हो।

"आतम भावना भावतां जीव लहे केवलज्ञान रे" श्रीमद् राजचंद्रजी

हम सब यहाँ इकट्‌ठे हुए हैं। घर के कामकाज छोड़कर बहुत दूर दूर से आकर यहाँ आश्रम में इकट्‌ठे हुए हैं और ज्ञानी की आज्ञा से जो कुछ भी भक्ति, वाचन, श्रवण करके ज्ञानी की वीतराग दशा पहचानने के लिए पुरुषार्थ करते हैं, उसमें सभी को अपने अपने भाव शोधना है कि मैं सब कामकाज छोड़कर यहाँ किस लिए आया हूँ? वह हो रहा है या नहीं? ऐसा विचार करके प्रत्येक क्रिया करते समय मन को देखना कि क्या कर रहा है? जो करने आया है, वही करता है या अन्य कुछ? इस तरह यदि हम खोजें तो हमें चोर का पता लग जाएँ, दोष का पता लग जाएँ। दोष बारम्बार देखें तो चुभतें हैं और उसे टालने का प्रयत्न करें। इसके लिए निरंतर उपयोग रखना है। अन्यथा जो उपयोग रहित भक्ति करें घर के विचार करता रहे या खाने के विचार आएँ, तो आत्मार्थ न हो सके। अतः सावधानी रखनी चाहिए।

(२४) बो.भा.-१ : पृ.-३७

पूज्यश्री:- सांसारिक प्रसंग जीव को याद रहते हैं और फिर राग-द्वेषकी परिणति होती है।

मुमुक्षु:- न चाहते हुए भी याद आ जाते हैं और परिणाम क्लेशित हो जाता है।

पूज्यश्री:- याद चाहे आए पर जीव उनमें इष्ट-अनिष्ट परिणति करें तो क्लेश हो। यदि इष्ट-अनिष्ट परिणति न करें और विचार करें कि मुझे तो छुटना है और मोक्ष में जाना है, तो कलेश नहीं होगा। समभाव आने के बाद ही मोक्ष में जा सकते हैं। क्योंकि समभाव ही आत्मा का निज घर है। इष्ट-अनिष्ट करने से पार नहीं आता। जो याद आएँ, उसमें रुचि न ले, समझ से उसका विचार करके सम परिणति जीव रख सकता है। याद आता है, उसमें जीव को यदि मीठास लगेगी तभी उसकी परिणति बिगड़ती है, अन्यथा नहीं बिगड़ती। याद आने मात्र से यदि परिणति बिगड़ती हो तो मोक्ष हो ही नहीं, क्योंकि पूर्व कर्म है, तब तक याद तो आएगी ही। अतः मार्ग को बदलने की जरूरत है। एक पटरी से दूसरी पटरी गाड़ी बदलें तो मुम्बई न जाकर अहमदाबाद तरफ जाने लगेगें। वैसे ही रुचि बदले तो संसार से हटकर मोक्ष प्रति मुड़ते है। रुचि बदले तो सर्व पुरुषार्थ यथार्थ हो जाएँ। रुचि न बदले तो सर्व क्रिया, तप, जप आदि संसार के कारणभूत बन जाते हैं।

चमरेन्द्र पूर्व भव में सुखी श्रेष्ठी था। उसे विचार आया कि पूर्व में मैंने कुछ किया है। उसी के फल से मैं यहाँ सुखी हूँ और अब जो प्रमाद में रहूँगा तो मौत आ जाएगी। अतः सुबह उठकर दीक्षा ग्रहण कर, धर्म आराधन करुंगा। ऐसा सोचकर सुबह होते ही उसने प्रणामा नामक तापसी दीक्षा अंगीकार की। कई वर्ष तक कठिन तप करके भी रुचि बदली नहीं। अन्त में एक मासका अनशन कर के भवनपति देवलोक में चमरेन्द्र बना। वहाँ पर ऊँचे सौधर्म ईन्द्र का विमान अवधि ज्ञान से देखकर उसे क्रोध आया। उसे हराने के लिए उससे युद्ध करने गया, सौधर्म ईन्द्र ने वज्र छोड़ा उसके भय से भगवान महावीर काउसग्ग में थे, वहाँ आकर उनके चरणों में मच्छर बनकर बैठ गया। इस तरह अपना बचाव किया। भगवान को वंदन कर के पश्चात्ताप से बिनंती की कि हे प्रभो ! मैंने पूर्व भव में अज्ञान तप किया तो यहाँ देव बनना पड़ा। यदि प्रथम आप के ही चरणों में दीक्षा ली होती तो इस तरह ईर्ष्या भी न होती और मोक्ष भी हो जाता।

इस तरह रुचि रह जाए तो बहुत पुरुषार्थ करने पर भी संसार का संसार रह जाता है। इसके लिए रुचि बदलना कि मुझे कुछ नहीं चाहिए और मेरा कुछ नहीं है। मुझे तो छुटना है। फिर ज्ञानी की आज्ञा का पालन करें तो जीव अवश्य छुट सकता है, विचार करके रुचि बदलकर, फिर पुरुषार्थ सतत जागृत उपयोग से करने की आवश्यकता है।

जीवन नियमित रखना, जिससे सहजता से समय का यथार्थ उपयोग हो जाता है। खास समय में खास काम कर लें तो प्रमाद नहीं होता। नियमित नहीं रहने से समय व्यर्थ जाता है। मन जो खाली रहें तो एक पल में कुछ का कुछ कर बैठता है। एक पल खराब विचार में चढ़ जाएँ तो फिर घाटे का हिसाब नहीं रहता। जीवन का समय कैसे बिताना? यह सोचकर काम करे तो अच्छा हो। जीवन में हर वक्त समान नहीं बितता। कभी निरोगी है तो कभी रोगी है। कभी इष्ट वस्तु की प्राप्ति हो, तो कभी अनिष्ट भी मिल जाता है। अतः पहले से ही ऐसी आदत ड़ाल लें कि चाहें कि जो भी आएँ, सब कर्म हैं। मुझे तो आत्मा तरफ दृष्टि रखनी हैं। ये तो सब जानेके लिए आएँ हैं , इनमें इष्ट-अनिष्ट क्या करना?

(२५) बो.भा.-१ : पृ.-४१

कोई पुस्तक पढ़ी, समझ न आई हो तो पुनः पढ़ना। तब विचार करना कि यह पुस्तक अपने लिए पढ़ रहा हूँ, इसमें त्याग करने जैसा क्या है? ग्राह्य क्या है?

जब यहाँ आश्रम में "गोम्मटसार" नामक पुस्तक का वांचन चालू था, तब सभी को समझने में कठिन लगता। अतः पुस्तक पढ़ते **"वीतराग का कहा हुआ परम शांत रसमय धर्म पूर्ण सत्य है।"** (श्री.रा.प.५०५) यह पत्र बोलने की प्रभुश्रीजी ने आज्ञा की थी।

वीतरागने जो कहा है, वह सत्य ही कहा है। मेरी समझ में नहीं आता। ऐसी यदि श्रद्धा रखकर श्रवण करें तो आगे जाते समझ आएँगी। जीव के अनधिकारीत्व के कारण ध्यान में नहीं आता।

ये पाँच इन्द्रियों के विषय और क्रोधादि कषाय आत्मा के महा शत्रु हैं। जब जीव इनमें एकाकार हो जाता है, तब सत्शास्त्र का उसे लक्ष्य नहीं रहता। स्वच्छंद से यह जीव अनादि काल से भटका है। स्वच्छंद निकालने के लिए ज्ञानी की आज्ञा का पालन करना चाहिए।

सत्पुरुष का योग हो और अनधिकारित्व मिटे तो कार्य बने। मनुष्यभव मिला है, व्यर्थ न जाएँ। अज्ञान के कारण यह जीव बहुत कर्म बाँधता है। यदि मोक्ष पाना हो, तो मोक्ष का उपाय करना पड़ेगा। जीव को पूछो कि तुझे मोक्ष जाना है? यदि जाना हो तो संकल्प-विकल्प, राग-द्वेष को छोड़ने का अभ्यास करना चाहिए।

शहद का एक बिन्दु खाने से सात गाँव जलाने जितना पाप लगता है। अज्ञानी लोग दवा में खाते हैं, जिससे बहुत कर्म बंध होता है। जीव मानता है कि इससे रोग मिटेगा, किन्तु इससे रोग बढ़ जाता है, इसका ध्यान नहीं। जितनी योग्यता कम होगी उतना भटकना पड़ेगा। शहद के बदले चासणी में, गुड में, पतासे में दवा ले सकते हैं। सत्पुरुष का योग और योग्यता की जरूरत है।

जीव को वैराग्य और उपशम की आवश्यकता है। वैराग्य अर्थात् भोगमें अनासक्त बुद्धि। उपशम अर्थात् जो कषाय स्वयं को होते है, वे होने न देना। जीवने कितने जन्म-मरण किए, पर अभी तक उसे थकान नहीं लगी।

पहले के समय में पुस्तक पढ़ने से प्रथम, उस पुस्तक की पूजा करके, फिर मन में भावना करते कि इस पुस्तक से मुझे लाभ हो। उपवास-एकासणा आदि पचक्खाण करके आज्ञा लेकर उस पुस्तक का विधि सहित वांचन करते थे।

(२६) बो.भा.-१ : पृ.-४४

साता-असाता तो सबको आती है, समभाव से वेदन करना चाहिए। गरज जगनी चाहिए। तभी पुरुषार्थ होगा। किसी भी प्रकार की ईच्छा दुःख का कारण है।

"क्या इच्छत खोवत सबे, है इच्छा दुःख मूल;
जब इच्छाका नाश तब, मिटे अनादि भूल।"

जब इच्छा करता है, तब जीव दुःखी ही होता है। इच्छा एक मोक्ष की करना। मोक्ष की इच्छावालों को सत्संग की जरूरत है। सत्संग सबसे बलवान साधन है। यदि जीव अकेला हो तो बल चलता नहीं। कोई कहे कि मैं गुफा में जाऊँ, ध्यान करुँ , ऐसा यदि कहता हो तो स्वच्छंद का पोषण है। जिसे निकालना है, उसे पोषे तो कहाँ से बाहर निकले? विचार की जरूरत है। वह विचार कहाँ से आएँ? आत्मसिद्धि में कहा है :-

" कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष;
भवे खेद, प्राणीदया, त्यां आत्मार्थ निवास।" ३८ आ.सि.

ऐसी दशा जब आएगी तब सद्गुरु का बोध अच्छा लगेगा और उस बोध से सुविचारणा प्रगट होगी। पूरी 'आत्मसिद्धि' लिखकर कृपालुदेव ने कहा है:- **"कर विचार तो पाम।"**

समझ की जरूरत है। समझ आना बहुत कठिन है। उसी के लिए ही सत्संग करने का बारम्बार कहते हैं। जब सत्संग न हो, तब सत्संग की भावना रखकर सत्शास्त्र का वांचन करना। समूह में इस जीव का विशेष बल होता है। सत्संग किये बिना कुछ भी करने जाए तो स्वच्छंद का पोषण होता है। सत्संग में आत्मा के सिवा कोई बात ही नहीं होती। अपने दोष दिखें और फिर उन्हें निकालने का पुरुषार्थ करें, यह सब सत्संग में होता है। प्रथम सत्पुरुष का उपदेश सुनें, फिर मनन करें और फिर भावना करें और निदिध्यासन करें। सुनता तो बहुत है, पर मनन-निदिध्यासन करें तब काम होवें।

जगत में किसी भी पदार्थ की इच्छा करने जैसी नहीं। सर्व दुःख का मूल इच्छा है। अहंकार जाएँ तब से धर्म है। मैं समझता हूँ। अब मुझे जानने योग्य कुछ रहा नहीं, इसका नाम स्वच्छंद है। ज्ञानी पुरुष के एक-एक शब्द में अनंत आगम रहे हैं, समझना बहुत कठिन है। योग्यता की जरूरत

है। गौतमस्वामीजी को भगवान महावीर ने तीन शब्द कहे थे :- उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य। इस पर उन्होंने पूरी द्वादशांगी की रचना की। बोध देनेवाला पुरुष भी सच्चा था, भूमिका भी योग्य थी। योग्यता के लिए उपरोक्त दोहा ३८वां 'आत्मसिद्धि' में कहा है।

(२७)   बो.भा.-१ : पृ.-४७

इस काल में अन्याय, अनीति बहुत बढ़ गएँ हैं। जो आर्य क्षेत्र थे, वे भी अनार्य जैसे आचरण वाले बन गएँ हैं। प्रभुश्रीजी ने जब कृपालुदेव के पास मुम्बई में चार्तुमास करने की आज्ञा माँगी, तब कृपालुदेव ने बताया कि यह अनार्य जैसा शहर है, परंतु शास्त्र में कहा है कि चाहे अनार्य देश हो तो भी उसमें सत्पुरुष का योग हो, तो वहाँ जाना उचित है। मेरा आचरण कैसा है? परभव में मेरा क्या होगा? यह कुछ भी वह सोचता नहीं। सिर्फ पैसे के लिए वह धर्म में दृढ़ कैसे रह सके?

सत्संग की आवश्यकता है। अन्य कुछ करने जाएँ तो स्वच्छंद आ जाता है। सत्संग में पूछा जाएँ, सोचा जाएँ, पर स्वच्छंद आने का भय नहीं है। कोई न आए तो भी आप अकेले बैठकर आधा घण्टा भी वांचन करें तो अन्य काम करते हुए भी पढ़ा हुआ याद आता है। मुझे आत्म कल्याण करना ही है, ऐसा जिसे हो, उसे तो सत्संग करना। किसीको आत्म कल्याण का निश्चय न हो और सत्संग करे तो उसे भी आत्म कल्याण करने का विचार हो जाता है। इस काल में सत्संग विशेष बलवान साधन है। अकेले का तो बल चलता नहीं। अशक्त व्यक्ति लकड़ी के सहारे चलता है, वैसे ही सत्संग रूपी लकड़ी रखकर आगे चला जा सकता है। सत्संग सरल मार्ग है। उससे अपने दोष दिखते हैं, फिर निकाले जा सकते हैं। प्रभुश्रीजी जिस दिन नासिक से वापिस आये उसी दिन शाम को उपदेश दिया था उसमें अंत में उन्होंने कहा था कि सत्संग करना चाहिए। सत्संग एक आसान उपाय है। वह प्रथम करना चाहिए। सत्संग से खुद के दोष मालूम पड़ते हैं और बादमें निकलते हैं। इस तरह सत्संग एक सरल उपाय है।

(२८) बो.भा.-१ : पृ.-४९

पर्व के दिनों में जीव को अच्छे भाव आते हैं, वे टिके रहें तो अच्छा है। उस समय विचारें कि इससे भी ज्यादा अच्छे भाव करना है। पुरुषार्थ से हो सकता है। थोड़ा सत्संग कर के एकान्त में जाकर जो सत्संग में सुना-पढ़ा, उसका विचार करने से आगे बढ़ सकते हैं। सुनने का क्रम तो बहुत किया पर विचार का क्रम ही नहीं पाला।

मोह बहुत तूफानी है, उसे मंद करना। कषाय की कुछ उपशांतता करें, मोक्ष सिवा अन्य कुछ इच्छा न रखें, संसार पर वैराग्य आएँ, तो रुचि हो और रुचि होने पर वीर्य स्फुरायमान हो। रुचि जगना बहुत कठिन है। महापुण्य हो तब जगे। जितनी रुचि जगे, उतनी आज्ञा पालन हो। उसी अनुसार लाभ हो। अभी मनुष्यभव की किंमत समझी नहीं, विचार से समझ आएगी। जैसे गाय चारा चरकर फिर छाया में बैठकर उसे खूब चबाती है, वैसे ही सुन कर विचार करने की आवश्यकता है।

कोई किंमती बीज इलायची आदि का बोया हो तो बहुत लाभ होता है। सत्पुरुष के वचन ऐसे ही किंमती है। वे हृदय में उतारें तो बहुत लाभ हो। सत्संग में बहुत कमाई होती है। उसमें जो सुना हो, उसे विचारे। बीस दोहे, यम-नियम, क्षमापना, आत्मसिद्धि, ये तो समझ में आएँ ऐसी सरल भाषा में है। 'भक्तामर' जैसा हो तो समझ में न आए। लेकिन इसे तो चलते फिरते भी कर सकते है। किंतु वेठ उतारने से जीवन में कुछ परिवर्तन न होगा। अच्छे निमित्त की जरूरत है। सद्गुरु की आज्ञा पालो। आज्ञा ही धर्म है।

(२९) बो.भा.-१ : पृ.-४९

मुमुक्षुः- इतना इतना सुनते है, फिर भी विचार क्यों आता नहीं? वापिस संसार में क्यों रमण करते रहते हैं?

पूज्यश्रीः- विश्वास की कमी है। यदि विश्वास हो तो कृपालुदेव ने कहा है, "अंतर में सुख है, बाहर खोजने से नहीं मिलेगा।" तो अंतर में

ही खोजें, परंतु विश्वास नहीं है। प्रेम आए बिना विश्वास नहीं होता। प्रभुश्रीजी ने पूरी जिंदगी यही उपदेश दिया कि भक्ति करो, कृपालदेव पर प्रेम लाओ। तुम शास्त्र पढ़ो, ऐसा नहीं कहा। प्रेम आए तो रुचि जागे और फिर आज्ञा पालन भी हो। सत्शास्त्रादि साधन हैं, पर उनमें रुक जाना नहीं, जब सत्संग का अभाव हो, तब जीव की रुचि ताजी रहे, इसके लिए है। आज्ञा ही जीवन है। सत्पुरुष का एक-एक वचन लेकर उसके लिए झुरणा होगी, तब काम होगा।

अनादि काल से परिभ्रमण हो रहा है, वह कैसे मिटे? मुमुक्षुता की कमी है। "सत्पुरुष में ही परमेश्वरबुद्धि, इसे ज्ञानीयों ने परम धर्म कहा है।" (श्री.रा.प.२५४) जब प्रेम आएगा तब सब होगा।

"पर प्रेम प्रवाह बढ़े प्रभु से, सब आगम भेद सुउर बसें।"

सत्पुरुष और सत्संग, दोनों चाहिए। कृपालुदेवने वचनामृत में जगह जगह सत्पुरुष और सत्संग, दोनों को गाया है।

शरीर के माध्यमसे जीव कर्म बाँधता है, उसी के कारण सब संसार हैं। जितना देह पर वैराग्य हो उतना मोक्ष तरफ मुड़ेगा। पाँच इन्द्रियों के विषयों की लोलुपता मिटे तो कषाय मिटे, क्योंकि इन्द्रियों के कारण कषाय उत्पन्न होते हैं। इन्द्रियों के विषय पर से भाव उठ जाएँ तो कषाय किस पर करें?

(३०) बो.भा.-१ : पृ.-५३

शुद्धभाव यदि न रहता हो तो शुद्धभाव ही मुझे करना है, ऐसा अंतर में लक्ष्य रखकर शुभभाव में प्रवृत्ति करें तो धीरे-धीरे शुद्धभाव की प्राप्ति होती है।

मुमुक्षु :- शुद्धभाव का जीव को पता नहीं तो लक्ष्य कैसे करें?

पूज्यश्री :- ज्ञानीपुरुष के अवलंबन से शुद्धभाव का लक्ष्य रखा जाता है।ज्ञानी का कथन सच्चा है, मैं तो कुछ जानता नहीं, ऐसा भाव रखें तो शुद्धभाव का लक्ष्य रहता है। **शुद्धभाव के लिए जो शुभभाव किया**

जाए तो पुण्यानुबंधी पुण्य अर्थात् परंपरा से मोक्ष का कारण होता है। शुद्धभाव के लक्ष्य बिना जो क्रिया की जाती है, वह शुभभाव नहीं पर शुभ क्रिया है उसका फल संसार है।

जगत में कहीं भी रुचि करने जैसा नहीं है। जिसे अपने स्वरूप का ख्याल नहीं और जो अपनी इच्छानुसार चलता है, वह मिथ्यादृष्टि है। व्रतादि जो साधन करते हैं, वे आत्मा के लिए करना। आत्मा तीनों लोक में सार वस्तु है। आत्मा जैसी वस्तु अन्य कोई नहीं है। सत्संग में जो भी सुनने - पढ़ने को मिला हो उसे खूब विचारो।

मुमुक्षुः- विचारना किस तरह?

पूज्यश्रीः- अपनी शक्ति अनुसार, जो भी सुना या पढ़ा हो, वह याद करना और उसे अपने जीवन से मिलान करना। इसमें जो वात कही, वह मेरे में है या नहीं? इस में से मुझे क्या लेना है? क्या छोड़ना है? ऐसे विचार करने से स्वयं को उल्लास भाव आता है, उससे कर्म खपते हैं। वरना मात्र सुनता रहे तो सामान्य हो जाता है कि यह तो मैंने पढ़ा है, मुखाग्र है। सत्पुरुष के वचन क्षण क्षण में नवीनता धारण करते हैं। ज्यों ज्यों पढ़ें, विचारें, त्यों त्यों नवीनता लगती हैं।

जीव को मनुष्यभव की महत्ता लगी नहीं। मानवभव की एक पल भी चिंतामणि रत्न समान है। एक पल में समकित हो सकता है, एक पल में चारित्र का उदय हो सकता है। एक पल में केवलज्ञान हो सकता है और एक पल में मोक्ष हो सकता है। ऐसी-ऐसी पलें मनुष्य भव में हैं। वे गँवाने जैसी नहीं है। यह भव संसार भोगने के लिए नहीं मिला, पर एक आत्मकल्याण करने के लिए मिला है। अनजानी जो आत्मा उसे जानना है। और पुद्‌गलादि जो जाने हैं, उन्हें नहीं जानना। आत्मा जैसा सारभूत पदार्थ कोई नहीं है। जिसे सत्पुरुष जैसे परमार्थ साधने के साधन मिले हैं, तथापि वह न जागे तो कब जागेगा? अतः जागो। सारा जगत नाशवंत वस्तुओं में आसक्त है, अविनाशी शुद्ध चैतन्य आत्मा को वह भूल रहा है। छः पद

सर्वोपरि है-आत्मा है, आत्मा नित्य है, आत्मा कर्ता है, आत्मा भोक्ता है, मोक्ष है, मोक्ष का उपाय है। छः पद का पत्र रोज विचार करके, उसे दृढ़ करना। 'अनादि स्वप्नदशा के कारण उत्पन्न हुए जीव के अहं-ममत्व भाव की निवृत्ति के लिए ये छः पद की ज्ञानी पुरुषों ने देशना प्रकाशित की है।'(श्री.रा.प.४९३)

मुमुक्षुः- कोई पद अथवा पत्र बोलते अभिमान आ जाता हो, तो बोलें या नहीं?

पूज्यश्रीः- जब बोलो तब विचारो कि मैं तो अभी सीखा नहीं। अभिमान करने जैसा अभी मैंने क्या सीखा है? पूर्व में हुए गणधरों ने चौदह पूर्व की रचना की थी। कईयों ने पूर्व पढ़े थे। उस ज्ञान के आगे मेरा ज्ञान क्या है? कुछ भी नहीं। भगवान में कितने गुण हैं? मेरे में कितने सारे दोष भरे पड़े हैं? मुझे तो अभी बहुत कुछ करना है, सीखना है। इस तरह यदि विचार करें तो अभिमान नहीं हो और पुरुषार्थ भी जागे। जब अभिमान आएँ तब भगवान को याद करो, तो अभिमान न हो। अपने से जो नीचे हैं, उन पर दृष्टि रखें तो अभिमान हो।

मुमुक्षुः- **"अधमाधम अधिको पतित, सकल जगतमां हुं य; ए निश्चय आव्या विना, साधन करशे शुं य।"** **इसका क्या आशय?**

पूज्यश्रीः- "हुं तो दोष अनंत नुं" इसका दूसरा रूप ही है। मेरे में बहुत दोष भरे हैं। भगवान में जितने गुण है, मेरे में उतने दोष भरे हैं। मैं आखिरी सीढ़ी पर हूँ। मुझे अभी बहुत पुरुषार्थ करना है। मैं सबसे अधम हूँ। इस तरह अपना अधम होना महसूस हो, तब पुरुषार्थ वर्धमान होता है।

(३१) बो.भा.-१ : पृ.-५६

समभाव, बहुत बड़ी वस्तु है। समभाव से कर्मों को वेदे तो झट पार आ जाएँ। कर्मो को वेदे तो जल्दी पूरा हो जाएँ। कर्म की रचना बहुत गहन है। प्रकृति, उदय, उद्दीरणा इस तरह कर्म रचना अनेक प्रकार से है, पर भोगनेवाली एक आत्मा है।

समझ की जरूरत है। श्रेणिक राजाने श्रद्धा की, तो भगवान बन गये। क्षायिक सम्यक्दर्शन तो केवली और समकिती को बराबर ही है। श्रद्धा में भेद नहीं पड़ता। शूरत्व चाहिए। मानने की बात है। जगत नहीं तो नहीं ही। पर ऐसा मानना चाहिए। जगत आत्मा का नहीं होता। जीव को दोष होता है, वह देह के निमित्त से होता है। देहभाव छूट जाना चाहिए।

"कायानी विसारी माया, स्वरूपे समाया एवा,
निर्ग्रन्थनो पंथ भव-अंत नो उपाय छे।"

काया को भूल जाना चाहिए। ज्ञानी कहते हैं कि तु काया की ममता छोड़ । काया आत्मा से अलग है। जीव झूठ में खड़ा है। वहाँ से बचना है। "कदम रखनेमें पाप है, देखनेमें जहर है, और सिर पर मौत स्वार है; यह विचार करके आज के दिन में प्रवेश कर।" (पुष्पमाला) वहाँ यह जीव खड़ा है। नाशवंत वस्तुएँ अपनी नहीं। यदि काया का स्वरूप विचारें तो इसे लगे कि आत्मा देह से जुदा है। देह और आत्मा के गुण अलग अलग है। अज्ञान से भुलावा हुआ है। उसे जो टालने हो, तो उसके लिए विचार करना। यदि पूरी तरह विचार करे, तो भूल निकले। जिस देह को यह अपनी मानता है, वह इसकी है ही नहीं । यदि इसकी हो तो मरते समय क्यों यहाँ छोड़ जाता है? इसकी देह हो तो साथ जानी चाहिए। इस के लिए सूक्ष्म विचार की जरूरत है।

"छूटे देहाध्यास तो, नहि कर्ता तूं कर्म,
नहीं भोक्ता तुं तेहनो, ए ज धर्मनो मर्म।" ११५ आ.सि.

इस जीवकी भूलकी (दोषोंकी) परंपरा चालू ही है। कल्पना (संकल्प-विकल्प) से मुक्त होना है। जड़ और चेतन ये दोनों जैसे हैं, वैसे समझ में आएँ तो कल्पना छूटे। कोई काला चश्मा पहने तो उसे सारा जगत काला दिखता है। ज्ञानी का चश्मा पहने तो जगत ज्ञानमय दिखें। ज्ञानीने जो कहा वह सच्चा है। वही मुझे करना है। जितना हो, उतना करना। अधिक न हो

सके, तो अधिक करने की भावना रखना। पर करना यही है। समझ चाहिए। **"समझ पीछे सब सरल है।"** वह समझ स्वयमेव अनन्त उपाय करने पर भी बदलना मुश्किल है। सद्गुरु के योग से जीव को दोष का पता लगता है। मुमुक्षु को अपने दोष दिखने से रोमांच उल्लसित होता है। अज्ञान जाने का कारण बोध है।

"देह जीव एकरूपे भासे छे अज्ञान वड़े;
क्रियानी प्रवृत्ति पण तेथी तेम थाय छे,
एवो जे अनादि एकरूपनो मिथ्यात्व भाव;
ज्ञानीनां वचन वड़े दूर थई जाय छे।"

ज्ञानी का योग होने के बाद देह छूट गई, ऐसी भावना होनी चाहिए। रुचि बढ़नी चाहिए। जीवको पैसे का स्वार्थ हो तब धूप में भी खड़ा रहता है। स्वरूप की रुचि नहीं हुई।

(३२) बो.भा.-१ : पृ.-५४

जीव को जगत के जहर में से बचने के लिए सत्संग बहुत बड़ा साधन है। जीव को जब सत्संग न हो, तब सब भूल जाता है। यदि सत्संग हो, तो भक्ति आदि करने की भावना सहजता से होती है। उसे कुछ कहना नहीं पड़ता।

ज्यादा पुरुषार्थ की जरूरत है। चौथे आरे के मनुष्यों को कभी कोई सत्पुरुष मिलते और कोई वचन कह देते, तब वे उस वचन की पकड़ कर लेते। आज तो रोज़ सुनने पर भी कुछ असर नहीं। अतः बहुत पुरुषार्थ करना।

(३३) बो.भा.-१ : पृ.-६१

मनुष्य भव पाकर आत्मा का हित करना है। सत्संग की जरूरत है। जीव निमित्ताधीन है। स्टेशन पर जाएँ तो वहाँ की बातें सुनने का भाव हो जाएगा, दवाखाना में जाएँ तो वहाँ वैसा भाव हो जाएगा, धर्म के स्थान पर धर्म का भाव होगा। अतः अच्छे निमित्त की जरूरत है। मनुष्यभव पाकर इतना जरुर विचार करेः-

"हुं कोण छुं? क्यांथी थयो? शुं स्वरूप छे मारुं खरुं?
कोना संबंधे वळगणां छे? राखुं के ए परिहरुं?"

मुमुक्षुः- 'वळगणा' का अर्थ क्या है?

पूज्यश्रीः- घर, कुटुंब, मा-बाप, भाई, बहन - ये सब संबंध वळगणा है। जब अपने भाव फीके पड़ने लगे तब झट चेतकर सत्संग करने चले जाना। नेवला साँप के साथ लड़ने जाएँ तब साँप उसे डंख मारे कि तुरंत जाकर जड़ीबुट्टी सूंघ आएँ, जहर उतर जाएँ। फिर उससे लड़ने जाएँ, तब साँप डंख मारे कि फिर जाकर जड़ीबुट्टी सूंघे। इस तरह नेवला निर्विष होकर जहरीले साँप को मार डालता है। उसी तरह संसार रूपी साँप है, जीव रूपी नेवला है, सत्संग रूपी बूटी है। जब जीव को संसार रूपी साँप का जहर चढ़ता है तब सत्संग रूपी बूटी को सूंघ आएँ तो जहर उतर जाएँ। ऐसे करते संसार का जहर उतर जाएँ और मोक्ष हो जाएँ। अतः भाव बिगड़े कि तुरंत चेत जाओ।

(३४) बो.भा.-१ : पृ.-६३

महापुरुषों ने जो जो कहा है वह सब आत्मा के हित के लिए है। अतः मन में निश्चय रखना कि यह ही मेरे काम का है। ज्ञानी को जो रुचे, वह यदि अपने को भी रुचे तो समकित है। ज्ञानी को आत्मा अच्छा लगता है, अपने को भी यदि आत्मा अच्छा लगे तो समकित है। आत्मा के अलावा सर्व वस्तु विनाशी है। आत्मा इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकता या किसी के हाथ में नहीं आ सकता। उपयोग उपयोग में एकाग्र होवे तो आत्मा हाथ में आता है। आत्मा उपयोग से पहचाना जा सकता है। "छे देहादिथी भिन्न आत्मा रे, उपयोगी सदा अविनाश।" उपयोग बिना आत्मा की पकड़ नही होती। महापुरुषों ने सब तरफ से उपयोग रोककर एक आत्मा में उपयोग को जोड़ा है।

अंदर से इच्छाओंको रोकना तप है। बड़ी भूल यह है कि जीव इच्छाएँ करता रहता है। आत्मा का सुख इच्छाएँ करने से चला जाता है।

इच्छाओं का नाश किए बिना सुख नहीं मिलता। शरीर के बिना आत्मा रह सकता है। सिद्ध भगवान को शरीर नहीं, आहार नहीं, तो भी रहते है ना? एक परमाणु मात्र ग्रहण करना, सर्व सुख का नाश करना है। जब पर वस्तु की इच्छा होती है, तब सुख चला जाता है। **"क्या इच्छत खोवत सबै, है इच्छा दुःख मूल।"** बहुत विचार करने की बात है। ज्ञानी की बताई एक बात भी जीव जो ग्रहण करें तो बस।

मिथ्यात्व मंद हो तब वास्तव में धर्म प्रगट हो। इस मिथ्यात्व का नाश करना है। जब तक मिथ्यात्व है, तब तक चेतो। कौन जाने कैसे कर्म उदय में आएँ और कहाँ ले जाएँ?

(३५) बो.भा.-१ : पृ.-६४

एक भाई :- क्रोध न हो, इसका क्या उपाय है?

पूज्यश्री :- समझ आने के बाद क्रोध मंद पड़ता है। क्रोध आएँ तब विचार करे कि क्रोध करता हूँ, पर यह तो जहर है, मुझे इस से नुकशान होता है, अतः मुझे नहीं करना। "प्रत्यक्ष कषायादि की तीव्रता हो, पर उसके अनभ्यास से, उसके अपरिचय से, उसे उपशम करने से, उसकी मंदता दिखती है।" यही उपाय है। ज्यों ज्यों दोष दिखे, त्यों त्यों उसे निकाले तो निकल जाएँ।

एक भाई :- भक्ति करें, तब जोर से बोलें या मौन से करें?

पूज्यश्री :- अपना चित्त यदि विक्षेपवाला हो, तो जोर से बोलना। जिस का चित्त थोड़ा अन्य सुनते ही वहाँ जाता है, उसे जोर से भक्ति करना, जिससे उसका चित्त बाहर न जाएँ। हम स्मरण बोलते हैं, तब एक व्यक्ति आगे बोलता है बाकी सब पीछे बोलते है। ऐसा बोलने से चित्त स्थिर रहता है। यदि चित्त विक्षेप रहित हो तो भक्ति मौन से करना अथवा होंठ हिलाए बिना कायोत्सर्ग करे तो जोर से बोलने की अपेक्षा दस गुना लाभ हो।

"ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहाँ समजवुं तेह।" यह स्याद्‌वाद मार्ग है। अतः समझकर अपनी भूमिका का पता करना चाहिए। चित्त विक्षेपवाला हो और काउसग्ग में खड़े रहकर भक्ति करे तो प्रसन्नचंद्र राजर्षि की तरह लड़ाई करने लग जाएगें। अतः समझकर करना।

(३६) बो.भा.-१ : पृ.-६४

एक भाईः- **वैराग्य कैसे हो?**

पूज्यश्रीः- **विचार से**। शरीर का विचार करे कि यह शरीर ऊपर से अच्छा दिखता है, पर अन्दर क्या भरा है? इसका स्वरूप कैसा है? इस तरह यदि विचार करे तो वैराग्य आएँ। वैराग्य की जरूरत है। प्रथम यह कहना, "मैं देहादि स्वरूप नहीं और देह, स्त्री, पुत्रादि कोई भी मेरे नहीं।" इतना हो तो माना जाए कि "शुद्ध, चैतन्य स्वरूप, अविनाशी, मैं आत्मा हूँ।" कुछ वैराग्य हो तो बोध का परिणमन होवे। ज्ञानी का एक वचन भी ग्रहण हो तो मोक्ष में ले जाए। सत्पुरुष के एक-एक वाक्य में, एक एक शब्द में अनंत आगम रहे हैं। सत्पुरुषों ने एक 'समता' शब्द कहा उससे तो कितने ही मोक्ष में गएँ।

कोई एक मुनिराज बैठे थे। वहाँ आकर चिलाती पुत्र ने तलवार दिखा कर कहा, "मुझे मोक्ष बता वरना तेरा सिर उड़ा दूंगा।" मुनिने सोचा कि यह भव्य जीव है, उसे "उपशम, विवेक, संवर" कहा। चिलातीपुत्र वहीं खड़ा रह गया। इन तीन शब्दों की धुन लगाई। ऐसे करते करते वे शब्द उसे समझ में आ गए, विचार करते हुए केवलज्ञान मिला। वैराग्य रखना। संसार के प्रति उदासीनभाव रखना जो पर है वह पर, ऐसा भेद करना।

"अध्यात्मनी जननी ते उदासीनता।"

चाहे कहीं भी जाएँ,भक्ति, वांचन, विचार जरूर करते रहें। कृपालुदेव मुंबई को स्मशान समान देखते थे। लोग मुंबई देखने जाते हैं। जिसे छूटना है, उसे परभाव में उदासीन रहना और जो करने जैसा है वह जरुर करना, भूलना नहीं।

(३७) बो.भा.-१ : पृ.-९८

भगवान महावीर मिले तब गौतमस्वामी सब छोड़कर भगवान के पीछे ही पड़े। सत्पुरुष के सहवास में थोड़े प्रयास से बहुत लाभ होता है। अखंड रूप से भगवान में लय लगे तो सच्चा वैराग्य है। अपने को क्या विघ्नकर्ता है, यह विचारें। भगवान का जितना विस्मरण उतना अहित समझना।

(३८) बो.भा.-१ : पृ.-११४

गृहस्थ अवस्था में तो बहुत वीर्य हो, तो समभाव में रहा जा सकता है। गृहस्थ अवस्था में रहे सत्पुरुष को पहचानना बहुत मुश्किल है। वैराग्य हो तो पहचान होवें। आत्मा पहचानना है। जिसे आत्मा की पहचान हो गई हो, उसे फिर चाहे कैसा भी प्रबल कर्म उदय में आया हो तो भी वह तो समभाव में रह सकता है। मुमुक्षु ज्ञानी का अन्तर पहचानता है। सत्पुरुष गृहस्थ अवस्था में हो तब मुमुक्षु को माहात्म्य लगे कि इतनी सारी उपाधि होने पर भी आत्मा को निर्लेप रखता है। सत्पुरुषार्थ करना है। अनन्त काल से अपने स्वरूप को पहचाना नहीं, उसका विचारपूर्वक निर्णय करना, वह सत्पुरुषार्थ है। उसी से जीव का कल्याण होता है। ज्ञानी-पुरुष निष्कारण करुणा से जीवों को बोध देते हैं, तथापि जगत के जीवों को उनकी किंमत नहीं। ज्ञानी का एक वचन भी ग्रहण हो तो भी बहुत लाभ है। जिसे महापुरुष का, उसके वचनों का माहात्म्य नहीं, उसका कल्याण नहीं। भगवान के पंच कल्याणकों में पूजने योग्य तो आत्मा ही है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप पूज्य है। ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि संसार का कारण, जीव के दोष है। ज्ञानी के पास वे दोष मिटाने के उपाय है। क्रोध-मान-माया-लोभ से छूटें, दोष जाएँ तो जीव सुखी हो। आत्मा को कषाय रूपी मैल चिपका है, वह साफ करना है। कर्मों से सिद्धावस्था रुकती है। ज्ञानी के वचन सुनने से अपने दोष् दिखते हैं और छूटते हैं। सत्संग से बहुत लाभ है।

ज्ञानी ने जो सुख का मार्ग बताया है, उससे जीव उल्टा वर्तन करता है। स्वच्छंद में विचरता है। ज्ञानी को जो अच्छा लगे, वह करना चाहिए। अनन्त काल से जीव ने स्वच्छंद से ही सब कुछ किया है। स्वच्छंद को रोककर ज्ञानी की आज्ञानुसार चलने से कल्याण होता है। व्रत आदि क्रिया ज्ञानी की आज्ञा से करे तो कल्याण है। अपने आप करे तो लाभ नहीं। ज्ञानी की साक्षी से करें तो बहुत लाभ है। स्वच्छंद का पोषण संसार है। जीव अपनी बुद्धि आगे रखकर सब करता है, पर ज्ञानी की आज्ञा जाने, तभी लाभ है। जीव को भव भय नहीं लगा। विषय कषाय में फँसा है। जहाँ विषयादि की श्रद्धा हो, वहाँ मोक्ष की श्रद्धा नहीं होती। जब जीव को संसार जहर लगेगा, तभी छूटेगा।

आत्मज्ञान करना हो तो पहले मन को साफ करो। इच्छाओं से आत्मा मलिन हुआ है। मुझे कुछ नहीं चाहिए, आत्मा कर्म से पकड़ा हुआ है, वह कैसे छुटे? इस तरह जब लगेगा, तब काम होगा। ज्ञानी पुरुष की आज्ञा पालन से ही मोक्ष है। सत्पुरुष के प्रति प्रेम हो तो भक्ति जागे। भक्ति सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। मन-वचन-काया से कर्म आते हैं। इससे विचारवान जीव हो, वह मन को ज्ञानी की आज्ञा में जोड़ता है। कल्पना, कर्म का कारण है। बुरे विचार आएँ तो झट सावधान होता है और अपनी आत्मा को उपालंभ देकर सद्विचार में जोड़ता है। अकार्य करते क्षोभ न रहे तो तीव्र कर्म बंध होगा। सब के संस्कार पड़ते है। पाप करके अभिमान करे तो रौद्रध्यान है। अपने दोष का जीव को पता होता है, पर उनके प्रति जो तिरस्कार हो तो दोष जाएँ। अतः सत्संग करो। उससे दोष का पता लगता है।

प्रत्येक वस्तु अपना स्वभाव बताती है। पारस से सोना बनता है, पर लोहे में जंक लगा हो, तो सोना नहीं बनता। उसी तरह सत्पुरुष का योग हो और कल्याण न हो, तो जानना कि जीव में जंक (काट) लगा है। योग्य जीव हो और सत्पुरुष का योग हो तो कल्याण होगा ही। जीव को अपनी होश नहीं, अन्यथा स्वयं को दुःख हो, ऐसा काम न करें। अपने दोप देखना है। मेरा ही दोष है, ऐसा लगे तो फिर दोष न करें।

"दीठा नहीं निज दोष तो, तरीए कोण उपाय।"

अपने दोष देखे बिना मोक्ष नहीं होता। पुरुषार्थ से जय होती है; पुरुषार्थ से सब होता है। विचारवान को कुविचार आएँ तो उन्हें निकालने का प्रयत्न करता है; पुनः ऐसा विचार न करुं, इस रास्ते न जाऊं; ऐसा निश्चय करता है। दोष जाने का उपाय महापुरुषों से जानकर उसकी आराधना करना। ज्ञानी पुरुषों ने दोष जानकर उसका अभाव किया है, उपाय खोज लिया है। जब तक जगत के दोष देखने जाता है, तब तक अपने दोष कम नहीं होते। अयोग्य जीव हो, उसे ज्ञानी पुरुष बोध नहीं देते, मौन रहते हैं। संसार दुःख रूप है, वह कैसे छूटें? यों बहुत विचार करना है। विशेष जागृति रखना। ज्ञानी पुरुष के वचनों से जानना है। ज्ञानी के वचनों से यथार्थ विचार होगा। जीव को सत्संग की बहुत जरूरत है। पुण्य का उदय हो तब तक सत्संग मिलता है। अतः प्रमाद न करें। जो जीव संसार में पड़े हैं, वे ज्ञानी के आश्रय बिना नहीं छूट सकते। जिसे सत्पुरुष का माहात्म्य लगा हो उसे ज्ञानी का कहा हुआ, सच्चा लगता है। सद्‌गुरु के योग से जीव का आग्रह जाता है। जीव का सम्यक्‌त्व नामक गुण है। उसमें विकार आने से मिथ्यात्व रूप बन गया है। जिसने मोक्ष की तैयारी ऐसी की हो कि सिर माँगे तो दे दे, वह ही सच्चा मुमुक्षु है। मुझे जगत नहीं चाहिए, ऐसा यदि हो तो ज्ञानी जो कहे वह इसे समझ में आ जाएँ। जब तक श्रद्धा नहीं, तब तक बोध समझमें नहीं आता। अहंकार, अभिमान मिटाने के लिए नमस्कार करना है। जीव को अपने दोष का खयाल नहीं। अहंकार और भ्रान्ति के कारण सच्ची वस्तु की परीक्षा नहीं होती। जब तक दोष न जाएँ, संसार नहीं छूटता।

लोकलाज, बड़प्पन यह सत्संग में विघ्न करते हैं। इससे सच्ची वस्तु हाथ नहीं आती। आग्रह से कल्याण नहीं। सब आत्मा के लिए करना है, यह भाव रहे। धर्म, शाँति के लिए है। शूरवीर होने की जरूरत है। जिससे अपना हित हो, वह ही करना। ज्ञानी से सम्यक्‌त्व होता है। अज्ञानी से

मिथ्यात्व गाढ़ होता है। ज्ञानी पुरुष सबसे उँचे गए हैं। जीव का कल्याण कैसे हो, वह ज्ञानी जानते हैं। ज्ञानी की आज्ञा में रहना, कल्याण है। मार्ग जिसे मिला है, उसे पूछना। पाप के मार्ग से तो दुःख ही निकलेगा, क्योंकी जो अपना नहीं, उसे अपना मानता है। अपने दोष देखकर टाले तो कल्याण होगा। आत्म हित कहीं से भी होता हो तो करना।

महा पुण्योदय से जीव को सत्संग मिलता है। सत्संग से जीव को बहुत लाभ मिलता है। सत्संग में आत्मा की बात सुनने को मिले। सारे जगत में कहीं भी सुख नहीं, वहाँ यह जीव सुख मानता है। जीव की दृष्टि बाह्य है, अतः इसे जो पर वस्तु मिले तो पूरी जिंदगी उसके लिए गँवा देता है। मनुष्य भव में जो करना हो, कर सकते हैं। मनुष्यभव से मोक्ष होता है, अतः वह उत्तम है। जागे तब से सबेरा। निरंतर पुरुषार्थ जरूरी है। लक्ष्य बदलने की जरूरत है। अनन्त काल से जो नहीं किया, वह सत् वस्तु प्राप्त करनी है। चलते-फिरते, प्रत्येक काम करते, वैराग्य रखना है। समय - समय पर कर्म का कारखाना चल रहा है, अतः जागृति की बहुत जरूरत है। सत्संग में रहने की जरूरत है। आत्मा की जागृति रखने के लिए रात-दिन ज्ञानी पुरुष के वचनों में वृत्ति रहे, वैसा करना। सत्संग तो पुण्य से ही मिलता है। जो सदाचार हो तो बोध ग्रहण होगा और आत्मसात हो। 'मोक्षमाला' मोक्ष के बीज समान है। धर्म में ढ़ील नहीं करना। कौन जाने कब देह छूट जाएँ? मोक्ष के लिए मनुष्य भव है। मनुष्य भव में जीव सत्संग कर सकता है, अच्छी भावना कर सकता है, अपने स्वरूप को समझ सकता है। **"प्रमाद के कारण आत्मा अपने स्वरूप को भूल जाता है।"** (श्री.रा.प.-२५) कर्म से छूटने के लिए मनुष्य भव मिला है। समझे तो मनुष्य कहलाएँ। जीव सो रहा है, उसे जगाने के लिए ज्ञानी का बोध है। आत्म स्वरूप को प्राप्त करने के लिए सब करना है। ज्ञानी की आज्ञा-पालन हो तो बहुत लाभ होता है। प्रमाद में जीव देह रूप बन जाता है। आत्मा उपयोग स्वरूप है। जैसा उपयोग, वैसा आत्मा।

"छे देहादि थी भिन्न आतमा रे, उपयोगी सदा अविनाश।" मैं कभी नाश होनेवाला नहीं, यह जो दृढ़ रहे तो भय नहीं लगता। आत्मा है, वह नित्य है, कर्ता है, भोक्ता है, मोक्ष है, मोक्ष का उपाय है। ये छः पद सम्यक्‌दर्शन के कारण हैं। धर्म करने की भावना प्रगट करनी मुश्किल है।

(३९) बो.भा.-१ : पृ.-११६

जीव की बड़ी से बड़ी भूल क्या है? अपना स्वरूप न समझना। इसी से परिभ्रमण है। "जे स्वरूप समज्या विना पाम्यो दुःख अनन्त।"

अपने स्वरूप की होश नहीं, इसी से अन्य में राग-द्वेष करता है। स्वरूप के ध्यान के लिए जिसने आत्म स्वरूप प्रगट किया है, उस पुरुष में वृत्ति रखना। सिद्ध भगवान सर्व क्लेश से मुक्त हैं और मेरा स्वरूप भी वैसा ही है। जीव ने दुःख को सुख माना है। अपना सुख तीनों काल में रहनेवाला है। वह अज्ञान के कारण ध्यान में नहीं आता।

"जहाँ कलपना जलपना, तहाँ मानुं दुःख छांहि;
मिटे कलपना जलपना, तब वस्तु तिन पाई।"

मेरा तेरा कुछ नहीं। एक आत्मा है, उसकी पहचान करनी है। उत्तम वस्तु आत्मा है। उसकी पहचान हो तो आनंद आएँ। पास में चिंतामणि हो, पर पहचान न हो तो कंकर समझ कर फेंक दे। इसी तरह मनुष्यभव भी चिंतामणि रत्न समान है, उसकी एक पल भी चिंतामणि रत्न जैसी है, व्यर्थ खोने जैसी नहीं।

संसार का मूल कारण 'देह मैं हूँ' यह है। यही भारी भूल है। अपना नहीं, उसे जीव अपना मानता है। विपरीतता है। दोष वाला सब दोष दृष्टि से ही देखता है। देह के लिए सब करता है। जीव अभी संसार समुद्र में पड़ा है, उसका क्या कारण? यह मूल विचार करना है। मुझे बंध क्यों होता है? उससे कैसे छूटुं? इसका भी विचार करना है। आत्मा को संसार से छूटने का विचार आएँ तो सुविचारणा है। शास्त्र पढ़ पढ़ कर स्वयं को मुक्त करना है। शास्त्र पढ़कर भी आत्मा को यदि न पहचाना तो सब बोझ

रूप है। जिसे भूल लगे उसे अपने स्वरूप का ख्याल आता है और तब से सच्चा श्रावक या साधु है। भूल जानकर मन में विचार आएँ कि यह दोष है तो उसे निकाल दे। पर ऐसा निश्चय हुआ नहीं। जो जो वस्तु इसे मिलती है उसमें ममत्व करता है। सच्चे सुख की भावना भी नहीं की। अपनी भूल दिखनेमें आई नहीं और दिखती भी नहीं। कर्म हैं सो दुःख रूप हैं। जीव मुँह से यों कहता है कि मैं दुःखी हूँ, पर उसे समझ नहीं कि वास्तविक दुःख मुझे क्या है? संसार के सुख को सुख मानता है और उसी की इच्छा करके दुःखी होता है।

जिसे मोक्ष की इच्छा हो उसे संसार के प्रति अभाव होता है। संसार में जीव गलत रास्ते पर है। सच्चे मार्ग की शुरुआत में धर्मध्यान कठिन लगता है। आत्मा तरफ मुड़ना मुश्किल हो गया है। जीव विषयों में लीन है। आत्मा सुख स्वरूप है, ऐसा यदि जीव अभ्यास करे तो फिर मन दूसरे में नहीं जाएगा। सत् वस्तुमें मति यानी बुद्धि की पहूँच नहीं। "सत् है, वह भ्रान्ति नहीं। भ्रान्ति से केवल व्यतिरिक्त (अलग) है। कल्पना से पर है।"(श्री.रा.प.२११) ज्ञानी ने आत्मा को जाना है वह सत् है। दूसरी इच्छा मत करना, तभी समझ आएगी। जीव को कल्पित वस्तु की महत्ता लगती है, अतः आत्मा दिखती नहीं।

प्रश्नः- सम्यक्दर्शन कब हो?

पूज्यश्रीः- 'मैं देह से भिन्न हूँ' ऐसा लगे तब। जैसे संयोग मिलें वैसा ही जीव हो जाता है। मैं बनिया, मैं ब्राह्मण, इस तरह संयोगानुसार स्वयं को मानता है। केवलज्ञान कोई दूर नहीं, पास ही है, भरत चक्री को अन्यत्व भावना का विचार करते ही केवलज्ञान हो गया था। 'मैं और मेरा' यह संसार का स्वरूप है। लाखों रूपये देने से भी जो न मिले, ऐसा मानव भव मिला है। निर्ग्रंथता, निरहंकारता आए तब जीव का कल्याण हो। पाँच इन्द्रियाँ शत्रु जैसी हैं। कोई भी पर वस्तु के प्रति महत्ता न रहे, तो राग-द्वेष न हो। फिर कर्म बंध भी न हो। स्वरूप समझे तब समकित होता है।

(४०) बो.भा.-१ : पृ.-११८

महा पुण्य के योग से यह मनुष्यभव मिला है। किसी के अकस्मात मरण को देखकर ज्ञानी विचार करता है कि इस बेचारे का मनुष्य भव निष्फल गया। किसी के मृत्यु-प्रसंग पर खेद नहीं करना चाहिए। उस समय ज्ञानी के वचनों का विचार करना चाहिए। संसार में कहीं भी सुख नहीं; सुख दिखता है, वह भ्रान्ति है। इस संसार में मृत्यु समय कोई बचा नहीं सकता। ईन्द्र की मृत्यु हो, तब बहुत देवता पास ही खड़े होते हैं, पर कोई बचा नहीं सकता, तो फिर मनुष्य तो क्या कर सकता है? इस अनित्य संसार में सुख पाने की कल्पना में जो मोक्ष का साधन प्राप्त हुआ है, उसे व्यर्थ न जाने दें। पुनः जन्म न हो, ऐसा करें। चाहे कितना भी मिथ्या प्रयत्न करे पर अन्त में सब छोड़ कर जाना ही पड़ता है। साथ कुछ नहीं आता। मनुष्य भव इस संसार की मायाजाल में व्यर्थ गँवाना नहीं। वैराग्य बढ़े तो मुक्त हो। आसक्ति छूटे तो वैराग्य हो। वैराग्य ही कर्म से मुक्ति का उपाय है। चाहे कैसे भी पाप या पुण्य का उदय हो तथापि आसक्ति न करें तो मोक्ष होगा, ऐसा भगवान ने कहा है। जिसे वैराग्य हो, वह संसार से छूटता है। दूसरों को उपदेश देने में जीव बहुत होंशियार है, पर अपने प्रसंग पर पता लगता है।

सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रों को दृष्टिविष सर्पने मार ड़ाला, तब ईन्द्र ब्राह्मण का रूप लेकर नगर में आया। अपने बेटे का शब लेकर फिरने लगा। फिर राजदरबार में आया, सगर चक्रवर्ती ने कहा "हे विप्र! आप रोते क्यों हो? सब का मरण कभी न कभी तो होने ही वाला है। आप विद्वान हो, अतः धैर्य रखना चाहिए।" ब्राह्मण ने कहा "आपके पुत्र यदि मर गए हों तो क्या आप रुलोगे नहीं? धीरज रखो?" तब राजाने कहा :- "हाँ !" ब्राह्मण बोला :- "आपके साठ हजार पुत्र अष्टापद पर्वत पर तीर्थ की रक्षा के लिए गंगा नदी को लाए। नदी का पानी, नीचे भवनपति देवों के भवनों में भर गया। नागकुमार देवता वहाँ भयंकर रुष्ट हो गए। उन्होंने बाहर आकर दृष्टिविष से उन सब को मार ड़ाला है।" इतना सुनते ही राजा मूर्च्छा खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

संसार का स्वरूप ऐसा ही है। अतः आत्मा का काम पहले कर लेना चाहिए। विचारवान पुरुष पहले से ही, इस संसार में मेरा कोई नहीं, यों हृदय में स्पष्ट कर रखते हैं, जिससे मृत्यु का दुःख लगता नहीं। बुद्धिशाली जीव अपने परिणामों को देखता है और संसार के प्रति कुछ आसक्ति हो तो उसे छेद डालता है। संग में जीव को मोह है, उसका फल दुःख है। मेरा नहीं, ऐसा मानने वाले को दुःखी नहीं होता। असंग व्यक्ति परम सुखी है। संग से छूट कर असंग होना है। असंग एकदम बन नहीं सकते, सत्संग से शक्य है। जो मोक्ष में गए हैं, वे संसार के तीक्ष्ण बंधन को छेद कर गए है। सूक्ष्म विचार बिना समझ नहीं होती।

मृत्यु से पूर्व मोह का क्षय कर लेना चाहिए। किसी की मृत्यु हो तो विचार करें कि इसकी देह छूट गई इसी तरह मेरी भी छूट जाएगी। मैं प्रमाद में पड़ा रहा तो मेरी क्या दशा होगी? धर्म के काम में ढ़ील नहीं करनी चाहिए। मृत्यु सिर पर है, ऐसा लगे तो खाना-पीना कुछ अच्छा नहीं लगता। क्षण क्षण आयु क्षय हो रहा है, जीव को इसका पता नहीं। जागृत होना है। पल भर में देह छूट जाती है। मृत्यु समय जीव सोचता है कि सब नाशवंत है, पर फिर भूल जाता है। बुद्धिशाली जीव ही इस वैराग्य को टिका रखते हैं और अपने जीवन में परिवर्तन लाते हैं। सत्संग में कषाय की मंदता होती है, सुविचारणा जगती है। सत्संग में जो सुविचार आएँ, वे निरंतर चालू रहें, ऐसा करना चाहिए। जीव यदि लक्ष्य रखे तो हो सकता है। समय - समय कर्म बंध होता है। अतः समय-समय उपयोग रखना है। सर्वसंग जितना है, सब अहितकारी है। जिसे असंग बनना है, उसे संग का त्याग करना चाहिए। जितना संग छूटे उतना असंग बनें। मेरा कुछ नहीं है, यह विचार करना।

(४१) बो.भा.-१ : पृ.-१२२

मृत्यु का विचार भय के लिए मत करें, परन्तु समाधि मरण की तैयारी करने के लिए करें। सम्यक्दर्शन होने से पूर्व भी जीव को वैराग्य

उत्पन्न होता है और यदी सत्संग मिले तो वैराग्य यथार्थ होता है। **आत्मा के सिवा कहीं भी रस न हो, आसक्ति न हो, वहाँ वैराग्य है।** संसार का मोह कम करने के लिए वैराग्य की जरूरत है। छः पद का विचार करना। आत्मा नित्य है, वह मरनेवाला नहीं। संयोग छूटें पर आत्मा तो नित्य है। पर्याय के नाश से वस्तु का नाश नहीं होता। आत्मा, त्रिकाल में रहनेवाला पदार्थ है। संयोगों का सदुपयोग करना। घबराना नहीं। विवेक की जरूरत है। ज्यों ज्यों सत्पुरुषों के वचनों में वृत्ति रहेगी, त्यों त्यों आनंद आएगा और ज्ञानी ने क्या कहा है, उस का लक्ष्य बँधेगा। छः पद का विचार जरूर करना है। "आत्मा कभी मरती नहीं।" इस तरह आत्मा की प्रतीति हो तो भय नहीं लगता। अनित्य पदार्थ के मोह के कारण नित्य पदार्थ का विचार नहीं आता है। अनित्य पदार्थ में जब तक वृत्ति रहेगी, तब तक नित्य पदार्थ की नित्यता नहीं लगेगी। अनित्य और नित्य पदार्थ का भेद करना है। इसके लिए बहुत पुरुषार्थ चाहिए।

(४२) बो.भा.-१ : पृ.-१२२

सत्संग करना। रोज नया कुछ सीखना। देह में आत्मा रही हुई है, वह देह से भिन्न है, उसके लिए भक्ति-वांचन आदि करना है। सत्संग के योग से जीव को अच्छे भाव रहते हैं। वह योग जब न हो तो ज्ञानी पुरुष के वचन विचारना। अन्यत्र वृत्ति रहे तो कर्म बंध होता है। ज्ञानी के वचनों में वृत्ति रहे तो कर्म छूटते हैं। कुछ न बने, तो स्मरण करो। जीभ को क्या काम है? उसे स्मरण सौंप देना। स्मरण की आदत पड़ी हो, तो मृत्यु समय याद आने से समाधिमरण हो सकता है।

स्त्रियाँ, ज्ञानीपुरुष के वचन को झट मान्य कर लेती हैं। तीर्थंकर भगवान के समय में भी साधु और श्रावकों की अपेक्षा स्त्रियाँ (साध्वी और श्राविकाएँ) अधिक थी। ब्रह्मचर्य पालन में स्वाद को कम करना। सहजात्मस्वरूप और नवकारमंत्रमें भेद नहीं। ज्ञानीकी आज्ञा को अनुकूल होना है। मैं जानता हूँ, समझता हूँ ऐसा कहना समझदारी नहीं हैं। धर्मध्यान में चित्त रखना है। भवभीरु हो तो धर्म होगा।

"भवभीत भविक जे भणे भावे, सुणे-समझे-सद्दहे,
श्री रत्नत्रयनी ऐक्यता लही, सही सो निज पद लहे।"

आत्मा के गुणों की और लक्ष्य रखना हैं। भगवान के माता-पिता थे, वे आत्मा थे। संसार दृष्टि नहीं रखना।

(४३) बो.भा.-१ : पृ.-१२३

परमात्म स्वरूप में जितनी लीनता हो, उतना संवर होता है। भरत चक्री जब युद्ध करते थे, तब पुण्डरीक गणधर ने भगवान ऋषभदेव से प्रश्न किया कि भरत के परिणाम कैसे हैं? भगवान ने कहा तेरे जैसे । लक्ष्य संसार से छूटने का था। जिसमें राग-द्वेष नहीं उनमें वृत्ति रहे तो राग -द्वेष न हो, यह काम भरत चक्रवर्ती करते थे।

एक भाईः- मोह कम करना हो तो संभव है, लड़ाई न करनी हो तो न हो; पर लड़ाई करते हुए भी भरत महाराजा अकर्ता क्यों कहे जाते हैं?

पूज्यश्रीः- भरत लड़ाई करते थे, पर उनका चित्त तो भगवान ऋषभदेव में ही था। ऋषभदेव भगवान जब दीक्षा लेने को तैयार हुए, तब भरत ने कहा 'मैं भी दीक्षा लूँगा।' भगवान ने कहा "ये युगलिएँ अभी ही तैयार हुए हैं, यदि राजा न होगा तो लड़ मरेगें, अतः तूं राज्य कर। तुम्हारा यह प्रारब्ध है और मेरा दीक्षा लेने रूप प्रारब्ध है।" इस तरह पिता के वचनानुसार भरत महाराजा सेवक रूप में रहे थे। छः खण्ड का राज किया, आज्ञा में रहे और वृत्ति भगवान में रखी, तो कर्म क्षय हो गये। यह मुनियों से भी अधिक पुरुषार्थ है। ऋषभदेव प्रभु एक हजार वर्ष छद्मस्थ अवस्था में विचरे थे और भरत चक्रवर्ती को तो गृहस्थावास में ही केवलज्ञान हो गया था ।

(४४) बो.भा.-१ : पृ.-१२५

धर्म का फल क्या? शांति। "हे आर्य! द्रव्यानुयोग का फल सर्व भाव से विराम पाने रूप संयम है।" (श्री.रा.प. - ८६६) यही धर्म का फल है। ज्ञानी पुरुष और ज्ञानी पुरुष के आश्रित, दोनों अलौकिक भाव में रहते

हैं। कृपालुदेवने सोभाग्यभाई को लिखा कि हम तुम लौकिक भाव में रहेगें तो अलौकिक भाव में कौन रहेगा? सभी को लौकिक भाव छोड़कर अलौकिक भाव में आना है। चाहे कैसा भी प्रतिबंध हो, मरण समान वेदना हो, पर आत्महित न भूलना। इस मनुष्य भव में भक्ति ही करनी है। जीव प्रमादी हो तब कर्म आते हैं। मुझे राग-द्वेष नहीं करना, ऐसा निश्चय हो तो कर्म बेचारे क्या करें? भक्ति में वृत्ति रखना और मन में **'सहजात्मस्वरूप परमगुरु'** बोलते रहना। एक मोक्ष सिवा दूसरी कोई ईच्छा न रखना। "मात्र मोक्ष अभिलाष।" इस भव में तो यह ही करना है।

'आज्ञा में ही एकतान हुए बिना परमार्थ के मार्ग की प्राप्ति बहुत ही असुलभ है।' (श्री.रा.प.१४७) अपने कर्मानुसार आजीविका मिली, उसमें संतोष रखना, उसमें समभाव रखना। अन्य कोई विकल्प करना नहीं। "ऐसा हो तो अच्छा, वैसा हो तो अच्छा।" इस तरह न करें। सत्संग सब विकल्प को छोड़कर असंग होने के लिए करना है।

(४५) बो.भा.-१ : पृ.-१२६

कृपालुदेव का उपकार महान है-अनंत दुःखों को टालने वाला हैं। ज्ञानी की आज्ञा आराधे तो जीव ज्ञानी की छत्र छाया में ही हैं। भावना सत्संग की रखने से वियोग में भी सत्संग का फल मिले। जैसा भाव वैसा फल। आत्मभावना रखना। "आतम भावना भावतां जीव लहे केवलज्ञान रे।" पहले करना है, **"मैं देहादि स्वरूप नहीं हूँ और देह, स्त्री, पुत्रादि कोई भी मेरे नहीं है, शुद्धचैतन्यस्वरूप अविनाशी ऐसा मैं आत्मा हूँ। इस तरह आत्मभावना करते हुए राग द्वेष का क्षय होता** है।" (श्री.रा.प-६९२) देह पर से भाव उठे तो सब हो। "छूटे देहाध्यास तो, नहि कर्ता तुं कर्म।"

धर्म तीन प्रकार से होता है, (१) अपने से हो, उतना ही करना। (२) अन्य के पास से करवाना। (३) यह धर्म करता है, तो अच्छा ही है। ऐसी भावना रखना। अच्छे को अच्छा जाने, तो सत्य का स्वीकार है, ऐसा कहा जाए। धर्म करते हुए को विघ्न करे तो स्वयं को अंतराय कर्म बँधता है। सरल भाव से धर्म करना है।

'आत्मसिद्धि' में सब शास्त्रों का सार है। अपूर्व ग्रँथ है। इस काल में परमात्म दशा पाकर कृपालुदेव ने यह ग्रँथ लिखा है। इसमें छः दर्शन है। जिसे सद्विचार जागे उसे मोक्ष समझ में आएँ। **'कर विचार तो पाम।'**

(४६) बो.भा.-१ : पृ.-१२६

कृपालुदेव की आज्ञा में रहना। उनकी आज्ञा से आत्मा प्रगट होगी, यह दृढ़ श्रद्धा चाहिए। उनके वचनों के साक्षी, सभी ज्ञानी पुरुष हैं। त्रिकाल में यह सत्य है। जब भी ज्ञानी की आज्ञा आराधोगे, तब कल्याण होगा।

त्याग वैराग्य चाहिए। जगत से उदास होना। देह से लेकर सब में उदास भाव रखना। खाने-पीने में भी जहाँ तहाँ से पेट भरना है, पेट में ड़ालना है, ऐसा रखें। स्वाद न करें। आत्मा के लिए सब करना है। अनादि काल से देह की संभाल की है। देह में ही वृत्ति रखी है। आत्मा को नौकर बनाया है। पर यह देह आत्मार्थ में व्यतीत करें तो सभी भव का बदला हो जाएगा। यह देह तो आत्मार्थ के लिए है, साधना के लिए ही देह प्राप्त हुआ है। साध्य सिद्ध कर लेना। इस भव में दूसरी कोई ईच्छा न करना। मेरा माना है, वह अपना होने वाला नहीं। ज्ञानी की आज्ञा में ही देह व्यतीत करना है, न व्यतीत करे तो ऐसा योग मिलना मुश्किल है। मनुष्य भव दुर्लभ है। यह भव व्यर्थ न जाना चाहिए। बहुत सामग्री इकट्ठी की, तब मनुष्यभव मिला। अब समाधि-मरण के बिना सब व्यर्थ हैं। **'मुझे ज्ञानी की आज्ञा में ही इतना भव व्यतीत करना है।'** यों हो तो समाधिमरण हो। कहने मात्र से न होगा। रात-दिन इसी के लिए पुरुषार्थ करना है। अनंत बार मनुष्यभव मिला, पर मोक्ष की गरज नहीं हुई, अतः आत्म विचार जगा नहीं। **"दीठा नहीं निज दोष तो, तरीए कोण उपाय?"**

अपने दोष न देखें तो समकित न हो। वैसा बनने का उपाय सद्गुरु है। ज्ञानी ने क्या कहा है, यह सोचता नहीं। केवलज्ञान पाने की लय लगी नहीं। मोक्ष की इच्छा हो तो सब छोड़ना पड़ेगा, छोड़े बिना न

चलेगा। प्रारब्ध के उपर सब निर्भर है। जिसे आजीविका जितना प्राप्त हो, उसे ज्यादा लालसा रखना नहीं। शांति रहे, वैसे करना है।

(४७) बो.भा.-१ : पृ.-४०

मनुष्यभव कितना दुर्लभ है, यह जीव जानता नहीं। महा पुण्य योग से मिले इस मानवभव को व्यर्थ न जाने दें। मनुष्य तो सभी हैं, पर अपने को तो सत्पुरुष का योग मिला है, उन की आज्ञा का पालन करना। इसमें प्रमाद न होना चाहिए। प्रमाद और आलस्य जैसा कोई शत्रु नहीं। अतः प्रमाद न हो, सावधानी रखें।

प्रश्नः- पूर्व कर्म से भी प्रमाद तो आता ही है?

उत्तरः- आता तो है पूर्व कर्म से ही, पर पुरुषार्थ न करें तो प्रमाद नहीं जाता। पुरुषार्थ मात्र देह से नहीं, पर भावना उँची रखनी चाहिए। सत्संग सब से बलवान साधन है। स्वयं पुरुषार्थ न करे और कहे कि कर्म है, कर्म है, तो तो कोई मोक्षमें जाए नहीं। कर्म तो जड़ वस्तु है। कर्म को किसने बुलाया? आत्माने और यदि आत्मा कहे कि मुझे नहीं चाहिए, तो कर्म आकर चिपकता नहीं। महावीर स्वामी को तेईस तीर्थंकर जितने कर्म थे। निरन्तर साढ़े बारह वर्ष पुरुषार्थ करके घनघाती कर्मों को क्षय कर ड़ाला। पुरुषार्थ की आवश्यकता है। "पूर्व कर्म नहीं, ऐसा मान कर प्रत्येक धर्म का सेवन करते रहना।" (श्री.रा.प.-८४) जब से सत्पुरुष की आज्ञा मिली, तब से सावधान रहना।

"कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय;
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय।" ११४ आ.सि.

ज्ञान होने पर विभाव नहीं रहता। जगत स्वप्न जैसा है। शरीर का कोई भरोसा नहीं। कोई गर्भ में ही मर जाता है, कोई पच्चीस वर्ष का होकर मर जाता है, इसका कोई नियम नहीं। मनुष्यभव में जो इच्छा हो, वह पूरी कर सकता है। एक मनुष्यभव के अलावा कहीं से भी मोक्ष नहीं है। **जो भी करना है मुझे आत्मार्थ के लिए करना है, दूसरों को अच्छा लगाने के लिए नहीं करना, यह लक्ष्य रखें।**

पूर्व कर्म है, ज्ञानियों ने यह क्यों कहा? जागृत करने के लिए। मनुष्य भव की एक पल भी मिलना मुश्किल है। एक पल में सम्यग्दर्शन होता है, एक पल में केवलज्ञान हो जाता है।

कृपालुदेवने कहा है कि मुझे सारे जगत का शिष्य होने दो। महापुरुषों की भावना ही कोई अलौकिक होती है। यदि स्व-आत्मा का हित करना हो, तो दूसरों के हित की ईच्छा रखना। यदि अन्य का भला चाहे तो अपना स्वयमेव हो जाएगा।

(४८) बो.भा.-१ : पृ.-१२८

सुबह साढ़े तीन बजे उठना और पुनरावर्तन करना, याद करना। रोज सोते समय देखना कि मैं क्या करने आया था और क्या कर रहा हूँ? इससे दोष हो तो पता लगता है कि मैं कहाँ खड़ा था? कहाँ बातें की थी? यह काम न किया होता तो न चलता? ऐसे विचार करना। ऐसा करने से दूसरे दिन दोष न होगा। सोते समय रोज हिसाब करना, जैसे व्यापार में करते हो।

(४९) बो.भा.-१ : पृ.-१३०

प्रश्न :- कोई अयोग्य कार्य करते प्रथम विचार नहीं आता, बादमें आता है इसका क्या कारण?

पूज्यश्री :- इतनी विचार की कमी है। कुछ लोगों को तो अयोग्य कार्य करते प्रथम विचार भी नहीं आता और पीछे से भी पश्चात्ताप नहीं होता। कईयों को कार्य करते विचार नहीं आता, बाद में पश्चात्ताप होता है। कईयों को पहले विचार आता है कि यह मेरे लिए अयोग्य है, तथापि पराधीनता के कारण करना पड़ता है, फिर पश्चाताप करता है। **जीव भवभीरु हो तो उसे कषाय भाव होने लगे तब यह अच्छा है, ऐसा नहीं होता। यह कार्य उचित नहीं तथापि ऐसा क्यों हुआ? इस तरह विचार आता है। फिर सोचता है कि किसी का दोष नहीं, मेरे कर्म का दोष है। जिस से वाद-विवाद या झगड़ा होता नहीं।**

काम, मान और अधीरज, ये बड़े दोष हैं। प्रत्येक कार्य करते या बोलते जल्दी न करें, विचार कर बोलें। मैं बोल रहा हूँ, वह हितकारी है या नहीं? थोड़ा होता हो, तो थोड़ा काम करना, जल्दी न करें। विचार की कमी (खामी) है।

(५०) बो.भा.-१ : पृ.-१३१

"देह, मैं नहीं।" यों होना चाहिए। उसके बदले उल्टा मानें तो मिथ्यात्व है। जीव जड़-चेतन को एक मानता है, पुद्गल-संयोग में अहंभाव कर बैठा है, ममता हो गई है, यह तादात्म्य अध्यास है। "सर्व विभाव पर्याय में मात्र स्वयं को अध्यास से एकता हुई है उससे केवल अपनी भिन्नता ही है।" (श्री.रा.प.-४९३) पुद्गल का संयोग हुआ है, उस में मैं की बुद्धि है, मनुष्य पर्याय में 'मेरा' हो गया है। ज्ञानादि आत्मा के गुण हैं। राग-द्वेष विभाव है, वह अपना मूलस्वरूप नहीं है। "मैं गोरा, मैं काला" ये सब पुद्गल के पर्याय हैं। जैसी अवस्था हो, वैसा जीव अपने को मानता है। अनादि स्वप्नदशा है, इस से अहं-ममत्व भाव हो गया है। स्व-पर का विवेक नहीं, वह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का तीव्र उदय हो, तब सब उल्टी समझ आती है। समझ बदले तो सम्यग्दर्शन हो। मिथ्यात्व मंद पड़े तब समकित होता है और तभी जीव की रुचि होती है। जैसा संग वैसा रंग लगता है। पुद्गल और जीव अलग हैं। यथार्थ ज्ञान हो, तो भेद पड़ता है। परा भक्ति अर्थात् भगवान और भक्त में भेद न रहना। वह ज्ञान दशा ही है। अनन्तानुबंधी जाते ही वीतरागता प्रगट होती है। सम्यग्दर्शन है, वहाँ अंश वीतरागता है। संसार में से वृत्ति उदासीन हो, तब परम वीतराग अर्थात् जिसने चैतन्यस्वरूप प्राप्त किया है, उसमें जुड़ जाएँ, लग जाएँ। जगत के सब पदार्थों से वृत्ति उठ कर शुद्ध स्वरूप में प्रीति होती है। स्वयंवर में जैसे कन्या मन ईच्छित वर के गले में हार डालती है, वैसे जगत के पदार्थ न रुचें, तब भगवान में प्रीति होती है। आसक्ति बदलने के लिए भगवान को पति कहा है।

(५१) बो.भा.-१ : पृ.-१३१

अपने दोष देखने में अपक्षपातता, इसका क्या अर्थ?

स्वयं क्रोध करता हो तो क्रोध को अच्छा न माने। दोष को गलत जाने और निकालने का प्रयत्न करे। स्वयं झूठ बोलता हो तो "मैं अकेला झूठ बोलता हूँ, जगत में बहुत लोग बोलते हैं।" ऐसा न करे तो अपक्षपातता है।

मैं दुःखी हूँ, मुझे मोक्ष की जरूरत है, ज्ञानी का कहा मुझे करना है, यह चित्त शुद्धि है। लौकिक भाव छोड़कर आत्मा को तारने का भाव, चित्त शुद्धि है। आत्मा में जैनत्व, विष्णुत्व, सांख्यत्व नहीं। आत्मा तक पहुँचना है। मुझे व्यवहार समकित है, ऐसा सोचके रुके न रहना। आत्मा कर्म से आवृत्त है, अतः प्रकट नहीं होता। **सद्‌गुरु के वचन सुनना, मानना अर्थात् प्रतीति करना, यह व्यवहार समकित है।** अंतरंग कर्म मार्ग देता है। सात प्रकृति जाएँ, तब निश्चय समकित होता है। अनंतानुबंधी अर्थात् सच्चे धर्म के प्रति अभाव। ज्ञानी कुछ कहे, तब क्रोध आएँ, "मैं समझता हूँ" ऐसा हो तो अनंतानुबंधी क्रोध और मान है, और उपर से "आप कहते हो वह ही मैं मानता हूँ" ऐसा बताना, यह अनंतानुबंधी माया है। धर्म करके मोक्ष की इच्छा न रखकर पुत्र, देवलोक आदि की इच्छा करे तो अनंतानुबंधी लोभ है। जिस तरह महापुरुष मोक्ष में गए, वह मार्ग अपना नहीं, नहाने-धोने में ही धर्म माने तो मिथ्यात्व मोहनीय; गलत को माने और सच्चे को भी माने तो मिश्र मोहनीय। सच्ची वस्तु मान्य करने पर भी आत्मा ऐसा होगा या वैसा? किसी एक तीर्थंकर या एक प्रतिमा को विशेष मानना, इस तरह के जो भाव वे सम्यक्त्व मोहनीय के दृष्टांत हैं।

सब कर्मो में मोहनीय कर्म मुख्य है। जैसा कर्म का उदय हो, वैसा जीव होता है। मोह के कारण दुःख होता है। जीव को वस्तु पर मोह है, इसीलिए याद आती है। मोह, चिन्ता के कारण कर्म बंध होता है। आत्मा की विस्मृति न हो, यह याद रखें। पर वस्तु में जितनी आसक्ति होती है,

उतना दुःख होता है। मोह के कारण पर वस्तु में चित्त जाता है, तो कर्मबंध होता है। अतः सावधान रहें, चारों गति में मोह है। कहीं भी चित्त रखना नहीं। जगत के पदार्थों की तरह आत्मा भी एक पदार्थ है। उसे जगत के साथ कोई संबंध नहीं। आसक्ति के कारण भव खड़ा होता है। अपना नहीं, उसे अपना माने, वह मिथ्यात्त्व है।

शरीर अपना नहीं। आत्मा शरीर नहीं। आसक्ति छूटे तो जन्म मरण टलें। शरीर मेरा नहीं। देह रूप साधन से अब छूटने का काम करना है। शुभाशुभ भाव अब करना नहीं। शुद्ध भाव करना है, सब भूल जाना है। देहभाव छोड़ना है। कृपालुदेव लिखते हैं, "हम देहधारी हैं या नहीं, इसे जब याद करते हैं तब मुश्किल से जान पाते हैं।" (श्री.रा.प.-२५५) कितना अभ्यास? इस भव में कितने कपड़े पहने, वह याद नहीं करता, उसी तरह देह को याद नहीं करना। ज्ञानी की आज्ञानुसार चलें तो कर्म छूटते हैं। "किसी भी कारण से इस संसारमें क्लेशित होने योग्य नहीं है।"(श्री.रा.प.-४६०)

(५२) बो.भा.-१ : पृ.-१३५

मन का विश्वास रखने जैसा नहीं। इसे खाली नहीं रखना। खाली रखा तो कुछ का कुछ कर बैठता है। अतः इसे हमेशा काम सौंपना। पढ़ना, लिखना, विचार करना, सीखना और जीवन नियमित कर लेना। निमित्त अच्छे रखना कि जिससे अच्छे भाव रहें। सभी इन्द्रियों में रसेन्द्रिय बलवान है, इसका पोषण करें तो सभी इन्द्रियों को पोषण मिलता है, जैसे वृक्ष को मूल से पानी मिलता है। सब तरफ से छूटना है। कहीं भी राग या आसक्ति नहीं करना। वचन का भी संयम रखना। जरूरत हो तभी बोलना। अन्यथा स्मरण, वांचन, सद्भावना, भक्ति में रहना। वचन बोलने, सुनने से आत्मा में संस्कार पड़ते हैं, अतः खराब संस्कार न पड़े इसकी सावधानी रखना। सारे संसार में मुख्य वस्तु भोग है। वह भोग जिसे नहीं चाहिए, उसे बाद में सभी सहजता से परमार्थ में मददरूप होते हैं। सारा जगत भोग में पड़ा

है। इसी के लिए पैसा इकट्ठा करता है, पाप करता है, न करने योग्य कार्य भी करता है, परन्तु जिसे संसार का मूल कारण रूप यह भोग नहीं चाहिए उसका अन्य सब सहजता से छूट जाता है। लेकिन यह बनना बहुत कठिन है, क्योंकि अनादि काल के संस्कार स्पर्शेन्द्रिय के, एकेन्द्रिय से ही इसके साथ लगे हुए हैं। उस से छूटने के लिए सतत पुरुषार्थ की जरूरत है। अच्छे निमित्तों में रहकर उपयोग पूर्वक वर्ते तो काम हो जाएँ। आलस और प्रमाद, इस जीव के अनादि काल के शत्रु हैं। उनके वश में न हो पर खोज खोजकर इन्हें निकाल देना है, यह दृढ़ निश्चय करें।

अब तो छूटना ही है। कुछ ग्रहण नहीं करना। छोड़ना, छोड़ना और छोड़ना ही है। देह भाव जीव को अनादि काल से दृढ़ हो गया है। अतः दूसरे की देह के प्रति भी दृष्टि जाती है। मैं देह नहीं, देहादि मेरे नहीं-ऐसा दृढ अभ्यास करने की जरूरत है। 'मैं देह नहीं' ऐसा उपयोग हंमेशा रखना। "मैं तो ज्ञानी ने जाना है, ऐसा आत्मा हूँ।" जीव चाहे, वह कर सकता है। पुरुषार्थ करे तो सब हो। सिर्फ विचार करें कि यह मन मेरे वश में कैसे हो? जीव पुरुषार्थ करें तो यह मन एकदम वश में हो जाता है। इसे जिधर मोडें उधर मुड़ जाता है। अतः सतत पुरुषार्थ की आवश्यकता है। प्रमाद नहीं करना चाहिए।

(५३) बो.भा.-१ : पृ.-१३७

मोह का क्षय होने से इच्छा उत्पन्न नहीं होती। इन्द्रियों का ज्ञान तो अधूरा है, पर आत्मा में तो पूर्ण ज्ञान है। अभी आत्मा पर आवरण है। अतः इन्द्रियों से जानते हैं। संसार के कारण मीठे लगते हैं, मोक्ष के कारण अप्रिय लगते हैं, ऐसी उल्टी मान्यता, मिथ्यात्व है। जीव को मोह के कारण दुःख होता है। मोह दूर हो जाए तो सुख है। आत्मा निरावरण हो तो परिपूर्ण सुख ही है। दुःख दूर करने का उपाय सम्यग्दर्शन है। भगवान ने छः द्रव्य कहे हैं, उसकी हमें पहचान करना है। पदार्थ का जैसा स्वरूप है वैसा मानना, सम्यग्दर्शन है। उल्टा मानना और मेरी समज सच है ऐसा

आग्रह मिथ्या-दर्शन है। जो प्रयोजनभूत नहीं उसे न जानें या मिथ्या जानें तो हानि नहीं, परन्तु प्रयोजनभूत को यथार्थ जानें तो सम्यग्दर्शन हो। सम्यग्दर्शन हो तो सुखी हैं। द्रव्यलिंगी मुनि ग्यारह अंग पढ़ जाएँ तो भी उन्हें सम्यग्दर्शन नहीं होता, देहाध्यास नहीं छूटता। और तिर्यंच को भी "देह से मैं भिन्न हूँ," ऐसी श्रद्धा हो तो सम्यग्दर्शन होता है। जीव को ज्ञान के क्षयोपशम मात्र से नहीं, परन्तु दर्शनमोह जाने से सच्ची श्रद्धा होती है, तभी सम्यक्दर्शन होता है।

देहभाव के पोषण के लिए कुछ न करना, देह भाव छोड़ना है। शरीर से भक्ति का काम करा लेना। 'मोक्षमाला' मुखपाठ करने जैसी है, मोक्ष का बीज है। जगत के भाव में से वृत्ति उठा लेनी। जिसे आग्रह हो, उसे सच्ची वस्तु हाथ नहीं आती, अंतरंग जिसका स्वच्छ हो, उसे मिलती है। अपने भाव सुधारना। सच्चा त्याग तो अंतर त्याग है। जिस वस्तु का मन में से भाव उठ गया हो, उतना उसका त्याग हुआ। बाह्य त्याग भी अंतर त्याग होने के लिए है। जब तक बाह्य त्याग न हो तब तक (नहीं त्यागी वस्तुओंकी) इच्छा रहती है। इससे जहाँ जहाँ वस्तु तैयार होती हो, वह सब पाप अपने को भी लगता है। ज्ञानी का कथन सत्य मानना, तभी छूटोगे। अपनी बुद्धि आगे न करना।

गच्छ-मत का कारण अज्ञान है। जब तक मिथ्यात्व, अज्ञान और अहंभाव-ममत्वभाव है तब तक सच्ची साधुता नहीं गिनी जाती। मात्र वेष से साधुता नहीं गिनी जाती। यह हुण्डावसर्पिणी काल है। धर्म में बहुत विघ्न आते हैं। मूल वस्तु पर लक्ष्य जाए उसे कोई झगड़ा नहीं। देखने योग्य तो एक आत्मा है। पर पंचात में पड़े तो हाथ नहीं आता।

(५४) बो.भा.-१ : पृ.-१३९

मिथ्यात्व को जाने तो मिथ्यात्व टले। उसका स्वरूप कहते हैं :-

संसारी जीव अनादि काल से अनेक देह धारण करते हैं। देह में दो वस्तु है, एक जीव और दूसरा पुद्गल। जीव कर्म के निमित्त से शरीर की

वर्गणा ग्रहण करके "वह मैं हूँ" ऐसा मानता है, आत्मा और देह दोनों अलग हैं, उन्हें एक मानना वह मिथ्यात्व है। आत्मा में विभाव (क्रोधादिक कर्मजनित भाव) होता है, उसे अपना मानता है, वह भी मिथ्यात्व है। शरीर के विकास के साथ साथ आत्मा के प्रदेश फैलते हैं और शरीर घटे तो संकुचित होते हैं, इस तरह आत्मप्रदेश शरीर-प्रमाण रहते हैं। दो पदार्थ हैं, उनमें भेद नहीं मानना, और शरीर की क्रिया को और आत्मा की क्रिया को एक मानना, वह मिथ्यात्व है। देह में मन-इन्द्रियाँ आदि जो हैं, उसमें "मैं" मानता है। आत्मा का ज्ञान मन और इन्द्रियों के आधार से होता है। जानता है, देखता है, सुनता है, सूंघता है, चखता है, स्पर्श करता है, उसमें आत्मा का उपयोग है, वह भाव है और पुद्गल रचना द्रव्य है। द्रव्य मन आठ पंखुड़ी वाले कमल सम है। भावमन, आत्मा है। उसी तरह आँख की रचना, द्रव्य आँख है और देखने का उपयोग भाव-आँखे है। इसी तरह पाँचो ही इन्द्रियों के बारे में समझना। अपना क्या है? और पराया कितना है? इसका विवेक न हो तो वह मिथ्यात्व है। रूप-रस-गंध-स्पर्श-शब्द ये पुद्गल के गुण पर्याय हैं। जानना, आत्मा का गुण है। उसका भेद न रहे, तो मिथ्यात्व है।

जिस जिस कुल में जन्मा, वहाँ 'मैं' मानता है। शरीर के उत्पत्ति-नाश को अपना जन्म-मरण मानता है। आत्मा शाश्वत है, वह मानता नहीं। जीव पर्याय बुद्धि से मनुष्य, हाथी, पशु, स्वयं को मानता है, अन्दर आत्मा है, उसका ध्यान नहीं। उपर से शरीर को देखकर माता, पिता, स्त्री आदि मानता है। शरीर के आधार से सब संसार है। आत्मा जो मुख्य वस्तु है, उसका ज्ञान नहीं। 'मैं जानता हूँ' उस में भी शरीर जो दिखता है, उसे अपना मानता है। अरूपी आत्मा दिखता नहीं, उसका स्वरूप भासित होता नहीं। आत्मा का स्थान शरीर ने ले रखा है। अतः मैं शरीर हूँ, ऐसा हो गया है। मनुष्य पर्याय, वह ही मैं हूँ, ऐसा हो गया है। आत्मा और देह का एक क्षेत्रावगाही संबंध है। दोनों अलग हैं और अलग अलग काम करते हैं। तथापि जीव स्वयं को भूल जाता है। जानने वाला आत्मा तो

अलग है तथापि मिथ्यात्व के कारण विचार ही नहीं आता, वृत्ति आत्मा में जाती नहीं। मिथ्यात्व मंद हो और सत्संग हो, तब मेरा क्या, वह पता लगे।

मिथ्यादर्शन उल्टी समझ है। जो पदार्थ प्रत्यक्ष अलग दिखता है, स्त्री, पुत्र, चाचा आदि उसे अपना मानता है। शरीर नाशवान है, तथापि सदा रहने वाला हो, ऐसा मानता है। किसी मृतक को देखकर भी समझता नहीं कि मेरा शरीर भी अनित्य है। कर्म बन्ध के कारणों में राग होता है, उसे सुख के कारण मानता है। पैसा कमाने जाय, तो शरीर को दुःख हों, परिश्रम पड़े तो भी उसे सुख मानता है। जीव-अजीव भिन्न न लगे वह अयथार्थ ज्ञान है और वैसी श्रद्धा अयथार्थ दर्शन है।

क्रोध करने का मेरा स्वभाव हो गया है, ऐसा मानता है। कर्म के कारण भाव हो, वह अपना स्वभाव नहीं, विभाव है। ज्ञान-दर्शन आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव को स्वभाव और विभाव को विभाव नहीं मानता। मिथ्यादर्शन सब जगह विघ्नकर्ता है; इससे मुझे कर्मबंध होता है, यों समझ नहीं आती है। दृष्टि बाह्य है, अतः अपना भाव सुधरता है या नहीं, वह जानता नहीं। सभी दुःख का कारण मिथ्यात्व है, कषाय है। स्वयं को क्रोध होता हो, तो स्वयं को दुःखी नहीं मानता; पर इसने मुझे गालियाँ दीं, उससे दुःखी हूँ, ऐसा मानता है। यह भाव करता हूँ, उसका फल क्या आएगा? यह जीव समझता नहीं।

कषाय की तीव्रता हो तो नरक में जाता है। मंद कषायी देवलोक में जाता है। देवलोक में भी व्याकुलता होती है, उसका पता नहीं लगता। जिस भावों से कर्म आते हैं, वह आश्रव तत्त्व की श्रद्धा नहीं। अतः कर्म के कारण मैं दुःखी होता हूँ, यह नहीं मानता। एक बार जो कर्म आया, वह आठ भाग में बँटता है, उसे प्रकृति बंध कहते हैं। कर्म अपनी आँखों से दिखते नहीं, सूक्ष्म हैं, केवली जानते हैं। बंध तत्त्व की श्रद्धा नहीं, वह *मिथ्यात्व है। आश्रव न जाने तो संवर का पता नहीं लगता।* जीव ने कर्म

रोकने के लिए कुछ नहीं किया। संवर से सुख होता है, इसका इसे पता नहीं। अतः सुखी होने के दूसरे उपाय जीव करता है।

(५५) बो.भा.-१ : पृ.-१४३

राग-द्वेष का कारण पर्यायदृष्टि है। पर्यायदृष्टि के कारण मूलद्रव्य का ख्याल नहीं। शरीर मैं हूँ, ऐसा मानता है। अपनी पसंद की अवस्था में राग करता है और नापसन्द में द्वेष करता है। बाह्यदृष्टि हो तो बाह्य में राग-द्वेष होता रहता है। सारा संसार राग-द्वेष रूप ही है। जीव को कुछ लेना-देना न हो तो भी व्यर्थ में राग-द्वेष करता रहता है। कल्पना कर कर के सुख-दुःख पैदा करता है। गाय बछड़े पर राग करती है, बछड़ा उसे जरा भी सुखी न करे तो भी उस पर राग करती है। उसी तरह जीव करता है। यह आदत जीव को समझ आने पर कम होती जाती है। मैं आत्मा हूँ, मुझे देह से कुछ लेना-देना नहीं; तो किस लिए राग करुं? स्मरण करने की आदत डालना। हर वक्त मन को देखना कि क्या कर रहा है? जीव को जन्म मरण का त्रास लगना चाहिए। हठ करके स्मरण में चित्त रखना है। यह सरलता से नहीं होता पर प्रबल पुरुषार्थ करने से ही स्मरण में चित्त रहेगा। जीव को अन्य में राग-द्वेष करने की आदत पड़ गई है। पर्यायदृष्टि ही मिथ्यादृष्टि है। "शरीर मैं हूँ" यह भारी भूल है। शरीर पर राग करे तो अविचार है, विचार की कमी है। अविचार, सब अज्ञान का मूल है। "कर विचार तो पाम" जीव विचार करता नहीं। शरीर अलग है, ऐसा इसे लगता नहीं।

निमित्त अनुसार भाव होते हैं। पर पदार्थ राग-द्वेष होने में निमित्त है। चारित्रमोह रहे तब तक राग-द्वेष रहता है। दर्शनमोहनीय जाने के बाद चारित्रमोहनीय रहता है, पर वह शिथिल पड़ जाता है। चारित्रमोहनीय के उदय में राग-द्वेष होता है, ऐसा सम्यक्त्वी जानता है, अतः उसे बढ़ाने में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। राग-द्वेष होने में मूल कारण चारित्रमोह है। बाह्य पदार्थ राग-द्वेष नहीं कराते। महामुनि को बाह्य कारण होते हुए भी राग-द्वेष नहीं होता। चारित्रमोह के २५ भेद हैं, १६ कषाय एवं ९ नोकषाय।

स्वरूपाचरण न हो तब तक सच्चा वैराग्य नहीं होता। अनन्तानुबंधी जाएँ, तब स्वरूपाचरण करने की शक्ति प्रगट होती है। उसके बिना चारित्र, वह मिथ्याचारित्र है। पाँच इन्द्रियाँ और मन को न जीते, छःकाय की रक्षा न करे, वह १२ प्रकार की अविरति अथवा असंयम है। सद्‌गुरु का योग हो, बोध सुनने पर भी जीव मानता नहीं कि आत्मा शाश्वत है। भूत के प्रसंग प्रत्यक्ष देखने पर भी, आत्मा मरती नहीं, ऐसा नहीं लगता। जातिस्मरण हो तब जानता है कि यह मेरा पिता था, चाचा था और उस में उल्टा मोह करता है। अंदर से कर्म फिरें तो दशा बदले। दर्शनमोह कम हो, तब उसका ज्ञान सम्यक् होता जाता है।

प्रत्यक्ष देखने पर भी समझता नहीं। नष्ट होते धनादि को देखते हुए भी 'मेरा' मानता है। मरना है, यह जानते हुए भी मानवभव में जो कुछ करने जैसा है, वह नहीं करता। कुछ आत्महित कर लेना चाहिए, ऐसा ज्ञान नहीं। परभव में जाना है, उसके लिए तो कुछ करता नहीं। पुत्रादि जो यहीं पड़े रहते हैं, उनके लिए पैसा आदि कमाता है। यह सब मोह का उदय है।

(५६) बो.भा.-१ : पृ.-१४४

आत्मा का स्वरूप तो सहजस्वरूप है। कर्म के कारण विभावरूप हुआ है। जैसे स्फटिक रत्न काली वस्तु पर पड़ा हो तो काला दिखता है, पर उसे उठाकर देखें तो श्वेत दिखता है। ऐसा ही विभाव से रहित आत्मा का स्वरूप है। आत्मा में शुद्धाशुद्ध की कल्पना नहीं है, लेकिन कर्म के योग से यों कहना पड़ता है। आत्मा, आत्मा ही है। जीव अनेकों बार चींटी-मंकोड़ा बना, कई बार मानव भी बना, पर आत्मा चींटी-मंकोडा या मनुष्य नहीं है।

समकित प्राप्ति की शक्ति सब में हैं। जीव की, मिथ्यात्व के कारण तत्त्व विचार की तरफ वृत्ति जाती नहीं। मिथ्यात्व के कारण अनन्त काल गया है। बहुत बार अवधि (विभंग) ज्ञान आदि भी प्राप्त हुए, पर आत्मा

का ख्याल न आया। मृत्यु का भय लगता नहीं। जिसे आत्म जागृति हो, ऐसे पुरुष से जागृति आती है। स्वयं स्वच्छंद से करे तो जागृति न हो।

"परम निधान प्रगट मुख आगले, जगत उलंघी हो जाए, जिनेश्वर" जीव को गरज हो तो होता है। आत्मा का विचार करने के लिए आश्रम में रहते हैं। शुरुआत में तो त्याग कर के सम्यग् विचार करने का है।

(५७) बो.भा.-१ : पृ.-१५६

मुमुक्षु :- ज्ञान चेतना, कर्म चेतना और कर्मफल चेतना क्या है?

पूज्यश्री :- जिसे आत्मभाव की मुख्यता है, मैं आत्मा हूँ, असंग हूँ, उसे ज्ञान चेतना है। मैं कर्ता हूँ, मैंने किया, यह मेरा है, ऐसे भाव वाले जीवों की कर्म चेतना है। जो जीव एकेन्द्रिय आदि हैं, उन्हें कर्म फल भोगने की मुख्यता है, वे भी कर्म तो बांधते हैं, पर मन से नहीं। अतः कर्म बांधने की विशेषता नहीं, उन जीवों को कर्मफल चेतना है।

तप, भक्ति, वांचन, विचार करने की आवश्यकता है। वीतराग भाव से संवर होता है। कषाय कम करने से संवर होता है। जितना राग-द्वेष कम उतना बंध कम। वीतरागता बढ़े, उतना उतना बंध मंद होता है। जिसे छूटना हो, उसे किसी पर राग या द्वेष नहीं करना। वीतराग दशा में जितनी कमी हो, उतना बंध अधिक पड़ता है। वीतरागता के साथ जो विचार आएँ वह निर्विकल्प दशा है। धर्मध्यान में वस्तु को समझने के लिए विचार करे तो यह कोई विकल्प दशा नहीं। विचार न हो तो ज्ञान भी नहीं होता। जहाँ राग-द्वेष है, वहाँ विकल्प है; बिना राग-द्वेष निर्विकल्प दशा है; विकल्पमें राग-द्वेष मौजुद है। बिना राग-द्वेष जब पदार्थ का विचार करे तब विकल्प नहीं है। उपयोग अस्थिर हो उसका नाम विकल्प है। एक ही वस्तु में उपयोग रुके और दूसरी वस्तु में न जाएँ, वह ध्यान है। निमित्त के कारण जिसे राग-द्वेष होते हैं, उसे जो आत्मचिंतन रहे, तो राग-द्वेष कम हो जाते हैं। नीची दशा वाले जीवों को यह उपदेश किया है। दशा बढ़ने के बाद देवलोक, नरकादि का चिन्तन करे तो राग-द्वेष नहीं होता।

मुमुक्षुः- **जब तक स्वरूप न जाना हो, तब तक कैसे रहें?**

पूज्यश्रीः- **ज्ञानीपुरुष की आज्ञा में रहना।**

वस्तु को जानने से दोष नहीं, पर राग-द्वेष करने से दोष है। जितने अंश में वीतरागता, उतने अंश में सम्यग्दर्शन है। जितनी वीतरागता, उतनी निर्विकल्पता है। मोक्ष सुखरूप है और मोक्ष का मार्ग भी सुखरूप है।

मुमुक्षुः- लोगों को मोक्षमार्ग दुःख रूप क्यों लगता है?

पूज्यश्रीः- मुमुक्षु दशा न आएँ तब तक दुःख लगता है। छोड़ना पड़ता है, उसका दुःख है।

(५८) बो.भा.-१ : पृ.-१५८

जीव साधन करते हैं, पर निश्चयनय को भूल जाते हैं। इससे पुण्य बंध होता है, पर आत्मा का हित नहीं होता। यथार्थ श्रद्धा करके शुभ द्वारा शुद्ध में प्रवते तो मोक्ष हो। यह शुभ है, अतः पुण्य बंध होता है, इसलिए उसको छोड़ दें, ऐसा भी नहीं करना। साधन करना पर लक्ष्य निश्चय का रखना। एकान्त निश्चय या एकान्त व्यवहार को माने, दोनों मिथ्यात्वी हैं। पुण्य धर्म नहीं। धर्म तो शुभाशुभभाव का त्याग करके शुद्ध में रहे, तब होता है। शुद्धभाव की प्राप्ति करनी चाहिए।

"वीत्यो काळ अनन्त ते, कर्म शुभाशुभ भाव;
तेह शुभाशुभ छेदतां, ऊपजे मोक्ष स्वभाव।" ९० आ.सि.
"निश्चय वाणी सांभळी, साधन तजवां नो'य;
निश्चय राखी लक्षमां, साधन करवां सोय।" १३१ आ.सि.

शुद्ध को लक्ष्य में रखकर शुभ में प्रवृत्ति करे, तो शुद्धभाव प्राप्त हो। कृपालुदेव ने किसी क्रिया का निषेध नहीं किया, समझने की जरूरत है। "समज सार संसार में।" जो समझेगा, वह मोक्ष में जाएगा। कोई कुल धर्म को ही धर्म मान बैठे हैं; अपने बाप-दादा करते थे, वही करना है। पर इस से कल्याण नहीं। शास्त्र पढ़ें, विचारे और जो अच्छा हो वह ग्रहण करें। स्वच्छंद में कल्याण नहीं। भगवान ने जो मूल मार्ग कहा है, वह पापी

लोगों ने बिगाड़ डाला है, उसे माने तो कल्याण नहीं होता। भगवान ने जो कहा है उस अनुसार प्रवृत्ति करे तो स्वच्छंद न गिना जाएँ। समझकर करना। मेरे बाप दादा करते आए हैं, वह धर्म वास्तविक है? उसका यथार्थ विचार करने के बाद करें तो अवश्य कल्याण हो।

आत्मविचार कर्तव्यरूप धर्म है। आत्मा जागे तो धर्म हो। क्रिया करने से धर्मात्मा नहीं कहा जाता। यथार्थ फल समझ का मिलता है। धर्म में किसी का अधिकार नहीं। धर्म करे, उसके बाप का है। जन्म-मरण से छूटने के लिए भगवान ने कहा है। भगवान ने संसार से छूटने को कहा है, मुझे छूटना है, ऐसा हो तब मोक्ष होता है। आज्ञा का विचार करना है। राग-द्वेष नहीं करो, ऐसा जो कहा वह क्यों कहा? इस तरह विचार करें तो समझ आएँ कि राग-द्वेष से बंध होता है। भगवान ने सत्य ही कहा है पर मेरी बुद्धि में बैठता नहीं। शास्त्र में दो प्रकार के वचन हैं, कई अनुमान से माने जाते हैं और कई आज्ञा से मान्य करने होते हैं। आप्त पुरुष के सभी शास्त्र सत्य हैं। प्रयोजनभूत तत्त्वों की समझ करनी है, दूसरी न हो तो कुछ नहीं; पर इसमें भूल हो तो मोक्ष नहीं होता। 'खलबली करती हुई जो आभ्यंतर वर्गणा है उसका या तो आभ्यंतर ही वेदन कर लेना, या तो उसे स्वच्छ पुट देकर उपशांत कर देना'। (श्री.रा.हा.नों. 3-26)। जगत की वस्तुओं की जिसे स्पृहा नहीं, वह निःस्पृह है।

(५९) बो.भा.-१ : पृ.-१६९

मुमुक्षुः- कल मैं आणंद गया तब मेरी सौ की नोट चोरी हो गई। उस के ही संकल्प-विकल्प में बहुत समय बीत गया। न चाहते हुए भी उसी के विचार आते रहे।

पूज्यश्रीः- बहुत विचार करने की जरूरत है कि जो वस्तु शरीर से भिन्न - अलग है, उसका वियोग होने पर इस जीव को विचार घूमता है। तो जब वेदनीय का उदय होगा तब समभाव कैसे रहेगा? जीव मानता है कि मुझे अन्य की अपेक्षा ममत्वभाव कम है, पर अंदर मूर्छाभाव के मूल

कितने मजबूत है, पर वस्तु पर कितनी मूर्छा है, वह ऐसे प्रसंगों से जीव को पता लगता है।

ऐसे प्रसंगों में बहुत विचार करना चाहिए। ऐसे प्रसंगों में जीव को यथार्थ विचार करने का अवसर मिलता है। बहुत लम्बा विचार करे, तो ऐसे प्रसंगों में समकित भी हो जाए। अनाथी मुनि को वेदनीय के समय, संसार का स्वरूप विचारने का मौका मिला और समकित की प्राप्ति हो गई। कपिल को तृष्णा के विचार करते करते केवलज्ञान प्राप्त हुआ। हमें भी विचार करने का अवसर मिला है कि ऐसी मामूली वस्तु प्रत्यक्ष अपने से भिन्न और त्याग करने योग्य है, पाप का बाप, आर्तध्यान कराने वाली, भवोभव अधोगति में ले जाने वाली है। ऐसी वस्तु का सहज में त्याग हुआ तो हर्ष का कारण है। हलाहल विष खाने से एक भव समाप्त होता है, पर परिग्रह की मूर्च्छा से तो जीव को अनंत भव तक नरक-तिर्यंच गतियों में भटकना पड़ता है। विष से भी अधिक खराब, ऐसी वस्तु तो त्याज्य है, उसका सहज में त्याग हुआ तो हर्ष मानना, शोक नहीं मानना।

रामकृष्ण के एक शिष्य को ज्ञानी के उपदेश से विचार आया कि परिग्रह तो पाप का मूल है, तो उसका त्याग अवश्य करूँ। पर मुझे इस पर मोह बहुत है, तो इसका इलाज क्या हो? उसने एक हाथ में रूपया लिया और दूसरे हाथ में विष्टा ली और विचार करने लगा कि यह रूपया है, इससे खाने पीने की वस्तुएँ मिलती हैं, खाने के बाद वे वस्तुएँ विष्टा बन जाती हैं, तो फिर इनमें और विष्टा में क्या फर्क? ऐसा विचार करके उसने सब परिग्रह को त्याग दिया। फिर जब जब वह रूपये को देखता, तो उसे विष्टा से भी अधिक ग्लानि होती।

एक बार किसी ने उनकी परीक्षा की, एक दो आनी लेकर चुपचाप उनके सिरहाने के नीचे रख दिया। शाम को वे सेज पर सोये तो सारी रात उन्हें नींद नहीं आई। सुबह उठकर वे बिस्तर इकट्ठा करने लगे तो तकिए के नीचे से दो आनी निकली। उन्होंने निश्चय किया कि नींद न आने का

कारण, यह अल्प परिग्रह ही था। अल्प परिग्रह भी जीव को कितनी अशांति पहूँचाता है? इस वस्तु को देखते जहर से भी ज्यादा भय लगना चाहिए। जैसे सर्प को देखते भय लगता है, वैसे परिग्रह को देखते भय-त्रास लगना चाहिए।

(६०) बो.भा.-१ : पृ.-१८७

सब स्वप्न सम है। आज है वह कल नहीं। जब तक जीना है, तब तक आत्मा का काम कर लें। परमकृपालुदेव के कथन को समझ लेना चाहिए। सत्पुरुष के योग का लाभ मिला है। उसे बारम्बार याद करना। इस भव में यह योग मिला है, वह जैसा-तैसा नहीं है। लक्ष्य रखना है। ज्ञानी का योग हुआ वह सफल हो, वैसा करना है। मंत्र, आत्मा है। ऐसा वैसा नहीं है, बीज है, उसका पोषण करना है। भूला वहाँ से फिर गिनें। धर्म का फ़ल बहुत मीठा है। मृत्यु के समय मंत्र बहुत काम आएगा। अतः आराधना करना। ज्ञानी की आज्ञा का पालन करते हुए शरीर छोड़ना है।

खंभात में त्रिभोवन भाई का शरीर अस्वस्थ था। तब मन में वे विचार करते कि यह शरीर छूट जाएगा, मुझे क्या करना है? सत्संग का योग नहीं है। तब मैं वहाँ गया। उसने मुझे पूछा :- 'मैं क्या करुँ?' "परमगुरु निर्ग्रन्थ" जपुँ या "आतम भावना भावतां जीव लहे केवलज्ञान रे" जपुँ? उसे कृपालुदेव से मंत्र नहीं मिला था। तब मैंने प्रभुश्रीजी का कहा हुआ "सहजात्मस्वरूप परमगुरु" जपने को कहा। तब वे बोले, "यह तो कृपालुदेव मेरे लिए ही लिख गए हैं।" मरते दम तक उस भाई की वृत्ति इसी में रही।

(६१) बो.भा.-१ : पृ.-१८७

अन्य काम तो जीव करता है, भक्ति का काम नहीं करता। भक्ति के संस्कार ऐसे वैसे नहीं। असली बीज हो तो पलटे नहीं। महापुरुष का परिचय हो तो किसी दिन ठिकाना पड़े। यथातथ्य पहचाने तो सम्यक्त्व होता है। सच्ची वस्तु के प्रति अनादि काल से जीव द्वेष करता आया है।

कर्म बंधते हैं, उस से देहधारी बनना पड़ता है, भटकना पड़ता है। "मेरे से नहीं होता, पर यह है तो अच्छा" इतना भाव हुआ तो देर सबेर इस तरफ मोड़ आएगा। बहती गंगा में हाथ धोए तो काम हो गया। सद्दृष्टि जो धर्म के प्रति हो तो हितकारी है। संस्कार पड़े हों तो देर सबेर उगते हैं। भक्ति के संस्कार ऐसे वैसे नहीं। अच्छी वस्तु अच्छी लगे तो इसे लाभ हो। महा पुण्य का उदय हो तो इसे सत्य धर्म के प्रति रुचि होती है। किसी के हाथ में कुछ रहने वाला नहीं, सब छोड़कर जाना है।

(६२) बो.भा.-१ : पृ.-१८९

वांचन करना हो, तो सद्गुरु को याद करके करना। प्रत्येक काम करते, खाते-पीते, उठते-बैठते सद्गुरु को याद करना। कोई अल्प भी काम करते सत्पुरुष को याद करना। कुछ ईच्छा न रखना। जिसे छूटना है, उसे राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। नए कर्म नहीं बाँधना, पुराने भोगकर चले जाना। ईच्छा न करें तो नए कर्मबंध न हों। उदासीन भाव से भोग डालना। ज्ञान विचार से ज्ञान होता है, आत्मा प्रगट होती है। सत्संग करना है। जैसा संग वैसा रंग लगता है। आतम भावना हो तो मोह क्षय होता है, पुनः मोह नहीं होता।

जिस जीव को निश्चय है कि इतना जीवन आत्म कल्याण में बिताना है, उसे बोध परिणमता है। 'अनंतबार देह के लिये आत्मा का उपयोग किया है। जिस देह का आत्मा के लिये उपयोग होगा उस देहमें आत्मविचार का आविर्भाव होने योग्य जानकर, सर्व देहार्थ की कल्पना छोड़कर, एक मात्र आत्मार्थमें ही उसका उपयोग करना; ऐसा निश्चय मुमुक्षु जीवको अवश्य करना चाहिये।' (श्री.रा.प.-७१९) ऐसा जिसे हो उसे बोध परिणमता है। शब्द काम नहीं करते, आत्मा काम करती है। 'सियार को मुनि ने बोध दिया तो उसने रात्रिभोजन का त्याग किया। वहाँ से शुभभाव से देह त्यागकर प्रीतिंकर सेठ हुआ और मुनि बनकर मोक्ष में गए।' (प्रवेशिका-४४) अंदर से आत्मा के भाव बदले तो कल्याण होगा, बाकी तो बड़े बड़े भाषण देनेवाला भी भीतर से रिक्त (खाली) रह जाता है।

(६३) बो.भा.-१ : पृ.-१९१

प्रज्ञा को छैनी जैसा कहा है। जब लकड़ी फाड़े तब पहले अच्छी तरह जगह देखकर बाद में छैनी मारे तो दो भाग हो जाएँ। उसी तरह आत्मा और जड़ के लक्षण अच्छी तरह देखकर बीच में प्रज्ञा अर्थात् विचार रूपी छैनी मारे तो भेदज्ञान हो। साता-असाता सब में मोह परेशान करता है। **सद्विचार मोह को दूर करते हैं। जीव असाता में खेद न करे, साता में हर्ष न करे, ऐसा सद्विचार का गुण है।** 'मा रुष मा तुष' करते हुए मुनि को जब विचार जागा तब केवलज्ञान प्राप्त हुआ। जब विचार करेगा तब ठिकाने पड़ेगा। अविचार दशा, निद्रा जैसी है। अविचार के कारण मन घूमता है। विचार नहीं जगे, तब तक जीव अनित्य वस्तुओं में मोह करता है। रात दिन सावधान रहना है कि अविचार में न चला जाए। अविचार से लम्बे कर्म बँधते है, अतः भटकना पड़ता है। आत्म-विचार छोड़े तो अविचार आए।

दुर्जन, दुःख की कोठी है उसका संग करे तो जीव आफत में पड़ जाएँ। दोष हो जाएँ, उसकी अपेक्षा दोषी (दुर्जन) का संग करना ज्यादा खराब है, वह असत्संग है। जीवन मुक्त का संग, सत्संग है उस से जीव निर्भय होता है।

विचार से सब पाया जा सकता है। **ज्ञानावरणीय आदि जो आवरण हैं, वे विचार से टलते हैं। विचार जागे तो सारा जगत असार लगता है। उससे वीतरागता आती है। निष्काम स्थिति होती है। जीवनमुक्त का मन पूर्ण पद की इच्छा करता है।** पूर्ण पद की छाया इसमें दिखती है। वह राग-द्वेष नहीं करता। वहाँ पर मन को पूर्ण पद का अवलंबन है। ध्यान में मन पूर्ण पद में रहता है। अतः पूर्ण पद उसका अवलंबन है। उसे रागादि नहीं होता, उस की इच्छा भी नहीं होती। यह जगत चलता-फिरता नहीं दिखता। काष्ठ-तृणवत् सारा जगत लगता है। विषयों की उत्सुकता नहीं। तृष्णा नहीं रही। 'यह अच्छा है, यह खराब है' यह मन में से निकल गया है। मन शांत हो गया है।

नींद में मन मूढ़ है, विचार नहीं कर सकता। स्वप्न में मोह होता है, जागृति में इष्ट-अनिष्ट रहता है। निद्रा, स्वप्न, जागृत इन तीनों से अलग इसकी अवस्था है। भव किसे करना पड़ता है? मैं कौन हूँ? यह विचारो। सब करके यह करना है। विचार सर्वत्र प्रवेश करता है। इसे कोई रोक नहीं सकता। पर्वत के भी पार जाता है। **सद्विचार परमानंद का मूल है। विचार ही आत्मा है। प्रमाद छोड़कर इसका पालन करो, विचार करो।**

(६४) बो.भा.-१ : पृ.-१९३

इस भव में और पर भव में मुझे सत्संग मिले। सत्संग से विवेक अर्थात् भेदज्ञान होता है। यह आत्मा और यह देह, ऐसा भेद पड़े तो मोक्ष हो। उज्जड़ स्थान भी सन्तों को शहर से अधिक अच्छे लगते हैं। विपद् संपदरूप लगती है। मोह रूपी ओस के बिंदुओ को उड़ाने में सत्संग पवन जैसा है। चाहे कैसा भी दुःख-कठिनाई आयें तो भी सत्संग मत छोड़ो। सत्संग मिला हो, उसे तीर्थादि करने की कोई जरूरत नहीं। जितेन्द्रिय, संशय रहित, देहाध्यास रहित संत मिले तो फिर तप-तीर्थ का कोई महत्त्व नहीं रहता। संत समागम जिसे मिला है, उसका ध्येय निर्मल होता है। आत्मा उपादेय लगे, यह उसका ध्येय है।

शम, विचार, संतोष और सत्संग ये चार मोक्ष के द्वारपाल हैं। संतोष आया तो परम लाभ होता है। सत्संग हो तो उत्तम गति होती है। विचार से ज्ञान और शम से अभंग सुख मिलता है। शम, संसार को तैरने के लिए जहाज समान है। यह आए तो शेष तीनों आ जाते हैं। मन रूपी हाथी को जीत कर इन चारों में से किसी एक को भी प्राप्त करो। इन चारों में उत्तम सत्संग है। सत्संग करे तो सब आ जाता है। सत्संग करना हो तो असत्संग टालना चाहिए।

मन मोह रूपी वन है। उसमें वासना रूपी नदी है। उसे शुभाशुभ दो तट हैं। उन से वासना में जीव खींचे जा रहा है। प्रयत्न करे तो इस वासना रूपी नदी को पार कर सकता है। अच्छे विचार आने के बाद अशुभ तट छोड़कर शुभ तट पर जाया जाता है।

"वीत्यो काळ अनन्त ते, कर्म शुभाशुभ भाव;
तेह शुभाशुभ छेदतां, ऊपजे मोक्ष स्वभाव ।।" ९० आ.सि.

शुभाशुभ भाव छूटें तो शुद्धभाव आता है। लघुता आएँ तो प्रभुता आती है। लघुता से जीव कृपापात्र बनता है। कृपालुदेव के योग से अंत में अयोगी गुणठाणा प्राप्त होता है।

"लघुता में प्रभुता वसे, परम कृपा ने योग;
परमकृपालुदेव ने योगे समरुं अयोग।"

दिशा-काल से जिसका माप नहीं निकलता, ऐसे अनन्त ज्ञानवाले सिद्धों को नमस्कार। मैं बंधा हुआ हूँ, कैसे छूटूँ? ऐसा जो विचार करता है, वह इस ग्रन्थ का अधिकारी है। ज्ञानी या अज्ञानी को यह ग्रन्थ योग्य नहीं। ज्ञानी को जरूरत नहीं और अज्ञानी को जिज्ञासा नहीं, अतः पात्रता नहीं। प्रभु की साक्षात् कृपा हो तब जीव को सत्संग या सत्‌शास्त्र का योग मिलता है। भवरूपी सागर को पार करने के लिए सद्‌गुरु नाविकरूप है। अनादि काल के भव रोग को मिटाने के लिए सुविचार औषध है। "औषध विचार ध्यान"। मैं किस कारण जन्म-मरण करता हूँ? दुःख सहन करता हूँ? मैं कौन हूँ? इस तरह अपने स्वरूप को जानने का विचार करे तो :-

"ज्यां प्रगटे सुविचारणा, त्यां प्रगटे निज ज्ञान;
जे ज्ञाने क्षय मोह थई, पामे पद निर्वाण।।" ४१ आ.सि.

संत वृक्ष समान है। संत न हो वहाँ दिन भर रहना नहीं। वृक्ष जैसे फल और छाया देता है, उसी तरह सत्संग, छाया है। सद्‌गुरु के योग से कषाय शम जाते हैं। मनुष्य भव मिला है, वह मात्र आजीविका के पीछे बीत जाएँ तो ठीक नहीं। कुछ करना है। देह में मेहमान के रूप में आए हैं। दिन पर दिन बीत रहे हैं। आयु जा रही है। किस लिए जन्मे हैं? यह मानव भव किसके लिए जा रहा है? यह बहुत विचार करना है।

"एक घड़ी आधी घड़ी, आधी से पुनि आध,
तुलसी संगत साधु की, कटे कोटि अपराध।"

कुछ न बने तो सत्संग करना, उस से चेतना आती है। जीव ने स्वच्छंद से बहुत किया है, पर ज्ञानी की आज्ञा से करे तो छूटने का क्रम हाथ आएँ। धर्म का मूल, ज्ञानी की आज्ञा है। ज्ञानी का एक बोल मृत्यु समय याद आएँ तो मरण सुधर जाएँ। जहाँ जहाँ जीव की वासना है, वहाँ वहाँ जन्म लेना पड़ता है। अतः ज्ञानी के वचनों में चित्त रहे तो उसकी वासना जाएँ।

(६५) बो.भा.-१ : पृ.-१९९

जीव देहाध्यास छोड़े तो शांत होवें, और उसकी कषाय जाएँ। जगत की कोई वस्तु की इच्छा न हो, तो शांति हो जाए। सब आत्मा के कारण पता लगता है। जाननेवाले में उपयोग रहे तो अपने स्वरूप का पता लगे। आत्मा परमेश्वररूप है। रूप, रस, गंध सब अलग है। जाननेवाला इन सब से अलग है। आत्मभावना भावे तो परमानन्द पद प्राप्त हो। सारा विश्व जिसमें दिखता है, वह आत्मा। आत्मा से, ज्ञान अलग नहीं। जो स्थुल, सूक्ष्मादि रूप को जानता है, और सब को बाधित करता हुआ जो किसी से भी बाधित नहीं हो सकता, ऐसा जो शेष अनुभव है वह जीव का स्वरूप है। 'अबाध्य अनुभव जे रहे, ते छे जीव स्वरूप।' आत्मा की भावना करते करते तद् रूप बना जाता है। प्रभु प्रभु लय लगानी है। वह लगे तो उस पद को पाएँ। एक असंग आत्मा समझ में आएँ। चैतन्यमय हूँ, एक हूँ, अखंड हूँ, ऐसी आत्मभावना एक लक्ष्य से करो। मैं देह हूँ, स्त्री हूँ, पुरुष हूँ, पैसादार हूँ, गरीब हूँ, ऐसा अहंभाव त्यागो, देह के धर्म को अपना न माने, इस तरह परिपूर्णरूप से उपासना करते आत्म स्वरूप प्रगट होता है। ग्राह्य-ग्राहक भाव छोड़ देना है। जैसे मूल रूप है वैसा होना है।

(६६) बो.भा.-१ : पृ.-२०१

प्रमाद जैसा कोई शत्रु नहीं। पर वह शत्रु है, यह इसे समझ नहीं आती। अरूपी आत्मा को, "मैं - मेरा" करके अशुद्ध करने जैसा नहीं। शुद्ध आतम भावना भावे तो केवलज्ञान हो जाए। सब को बाद करते

करते जो रहता है, वह मैं हूँ। ज्ञानी ने जाना है, वैसी शुद्ध आत्मा मैं हूँ। यह "सोहम्" भावना है। अभिमान छोड़ने के लिए शास्त्र हैं। अभिमान करने के लिए नहीं। आत्म परिणाम की स्वस्थता, शुद्धता ही समाधि है। प्रथम आत्मा और बाद में सब।

इस काल में उपदेश को पकड़ने वाले नहीं रहे, अतः उपदेशक भी मंद होते गए। पहले के जीव इतने सरल थे कि ज्ञानीपुरुष के वचनों का पालन करते। ज्ञानी की आज्ञा लेकर अखंडरूप से पाले, ऐसे जीव पूर्व में थे। आज के जीवों को तो कृपालुदेव कहते हैं कि आज्ञा करना ही भयंकर है। "जब तक आत्मा सुदृढ़ प्रतिज्ञा से वर्ते नहीं तब तक आज्ञा करना भयंकर है" (श्री.रा.प.-९४१) मुनदास, अंबालाल, जूठाभाई शक्तिशाली थे, पर आयु कम थी। क्योंकि यह पंचम काल ही ऐसा है। एक प्रभुश्रीजी लंबी आयुवाले निकले तो यह मार्ग मिला।

(६७) बो.भा.-१ : पृ.-२०२

बीज बोने का मौसम आए, तब किसान काम करने लगता है। चाहे कितना भी सूर्य तप् रहा हो तो भी काम करता है। थोड़ा करे या ज्यादा करे पर खाली नहीं बैठता। वह जानता है कि मौसम में खेती न की, तो फिर खाने को नहीं मिलेगा। उसी तरह जीव को लगे कि मुझे आत्म कल्याण करना है तो फिर अभ्यास करने लगता है। यह आत्म अभ्यास करने का है।

मुमुक्षु :- वेदनीय न आए तब तक देह से भिन्न हूँ, ऐसा करते हैं, परंतु वेदनीय का उदय होते ही फिर वृत्ति देह में चली जाती है।

पूज्यश्री :- यह सही अभ्यास नहीं है। अभ्यास किया हो तो वेदना आने पर जागृति बनी रहे। अभ्यास करना हो तो अनुकूलता चाहिए। अभ्यास हो जाने के बाद चाहे कैसी भी प्रतिकूलता आए, तो भी कुछ असर नहीं होता। कामदेव आदि श्रावक अभ्यास करने के लिए स्मशान में जाकर काउसग्ग ध्यान में रहते थे। चाहे कैसे भी कष्ट आएँ पर काउसग्ग से चूकते नहीं। अभ्यास करने में पहले तो अनुकूलता चाहिए।

यथार्थ सामायिक करनी हो तो अच्छा स्थान चाहिए। पर अभ्यास हो जाने के बाद चाहे कहीं भी बैठे तो भी भाव स्थिर रहता है। सब का आधार मन पर है। अभ्यास से वृत्ति स्थिर रह सकती है।

मनुष्यभव बहुत दुर्लभ मिला है। अब आत्म-कल्याण का लक्ष्य रखे कि मुझे कर्म छोड़कर जाना है। उसके लिए सत्संग करे, सत्शास्त्र पढ़े। वरना मन तो बंदर जैसा है, अन्य काम में लगकर आकाश-पाताल एक कर देता है। मन-वचन-काया सभी कर्म बंधन के कारण हैं। यह मन वश हो जाए, तो कर्मों का भुक्का निकल जाएँ। ज्ञानी की शरण रखी तो कल्याण, अन्यथा अनंत काल तक भटकना पड़ेगा।

जीव को सच्ची समझ आई नहीं। यह ही मुझे करना है, ऐसा नहीं होता। मंत्र, मन को जीतने का साधन है। स्मरण में चित्त रहे तो कर्म बंध न हो। मन स्थिर रखना। मन चंचल है। इसे एकाग्र करने का मार्ग मंत्र है। आदत हो जाए तो मोक्ष ले जाए। ज्ञानी की आज्ञा में मन जोड़ दें तो मोक्ष मार्ग पर चल सकते हैं।

(६८) बो.भा.-१ : पृ.-२०६

क्या करने आया है, उसका पता नहीं। ज्ञानी की आज्ञा सिरोमान्य कर अध्यात्म-विचार करें तो शुष्कता न आएँ। सर्वत्र दुःख है, देव भी दुःखी हैं। कहीं भी जन्म लेने जैसा नहीं। सत्संग, सत्पुरुष का योग मिला है, पर जीव को अपूर्वता नहीं भाती, सामान्य सा लगता है। सत्संग की जिसने महत्ता समझी है, सत्संग की भावना है, उसे सत्संग न मिलता हो तो भी लाभ होता है। सत्समागम करने आया हो, पर कुछ सुनने को न मिले, तो भी सुनने की भावना है, अतः काम हो जाता है।

मुमुक्षुः- पकड़ का क्या अर्थ?

पूज्यश्रीः- जो कुछ सुना हो, ज्ञानी से, वह छूट न जाए और उसमें रुचि रहे तो ही पकड़ होती है। जिसे आग्रह हो उसे, 'मैं मूढ़ हूँ' यह पता नहीं लगता। आत्मा है, ज्ञानी ने उसे प्रगट किया है, उसमें विश्वास रख।

विश्वास से जहाज भी चलता है, ऐसा कहते हैं। ये वचन तो चिन्तामणि रत्न हैं। समकित होने का रास्ता बताते हैं।

(६९) बो.भा.-१ : पृ.-२०६

आत्मा का ख्याल रखना यह प्रभुश्रीजी कहते। **सुनते सुनते जीव को शुद्ध भाव हो जाता है, अतः सत्संग करने को कहा है। ज्ञानी ने जो किया वह शुद्ध भाव। ज्ञानी ने कहा है, ऐसा भाव। उसका लक्ष्य रहे तो छूटे।** अशुभ या शुभ नहीं। लक्ष्य शुद्ध का रखना। चाहे अशुभ आए, पर यह तो चले जाएगा। ज्ञानी ने शुद्ध भाव का अनुभव किया है। **ज्ञानी का आश्रित हो, उसे यह लक्ष्य रहता है। समभाव आत्मा का घर है।**

(७०) बो.भा.-१ : पृ.-२११

एक क्षण भी व्यर्थ न गँवाना। स्मरण-भक्ति करना। रोज सीखना, याद करना। जिसे ब्रह्मचर्य व्रत आया है उसे तो खूब सीखना, याद करना चाहिए। इसी में समय बिताएँ। प्रमाद न करें। गाड़ी में बैठे हों, तब दूसरों की बातें सुनने में समय न गवाएँ। स्मरण करें। दूसरा सब सांसारीक याद करने की अपेक्षा मंत्र स्मरण करें तो लाभ होगा।

अनादि काल से जीव को मोह भाव है। मनुष्यभव पहली बार मिला है, ऐसा नहीं, कई बार मिल चुका हैं। शास्त्र सीखे, दीक्षा ली, पर मोह मिटा नहीं। अपनी जो वस्तु नहीं, उसे अपनी मानना नहीं, तब मोह न होगा। आत्मा में सगे-संबंधी कोई नहीं। सब से छूटना है। प्रभुश्रीजी ने स्पष्ट कह दिया है कि गुरुगम आत्मा में है, बाहर खोजने से नहीं मिलता। वृद्ध, जवान, तवंगर आदि अन्य वस्तुअें दिखती है पर आत्मा नहीं दिखता। आत्मा ही गुरुगम है। पर्याय दृष्टि छोड़नी है, भाव की बात है। जितना गुड़ डालें, उतना मीठा हो। गुरु का बोध सुनकर, दर्शन करके जो करना था वह न किया तो बोध भी नहीं सुना। दर्शन भी नहीं किया। ज्ञानी से कितना लाभ होता है इसका पता जीव को नहीं। समझे तो उपकार लगता है।

"सद्गुरु ना उपदेश वण, समजाय न जिनरूप।
समज्या वण उपकार शो? समज्ये जिनस्वरूप॥" १२ आ.सि.

(७१) बो.भा.-१ : पृ.-२१३

संसार भोगना और मोक्ष पाना, दोनो एक साथ नहीं हो सकता। काल ऐसा है कि जीव को धर्म की रुचि मुश्किल से है। मैं दुःखी हूँ और मुझे छूटना है ऐसी तड़प वाले जीव कम हैं। जैसी तड़प जागेगी, वैसा पुरुषार्थ जीव करेगा। स्मरण में चित्त रखना। क्षण भी व्यर्थ न गँवाना, चाहे कुछ भी हो तथापि अपने को सत्साधन मिला है, वह न चूकें। बारम्बार मन भटकता है। वह कहाँ जाता है? उसका ख्याल रखें। वह हितकारी में जाता है या अहितकारी में? यदि अहितकारी में जाता हो तो वापिस मोड़ना। बारम्बार मन का ख्याल रखना। अभी देह छूट जाए तो कैसा हो?

देह और आत्मा दोनों अलग हैं। शरीर के विचार आत्मा को मार डालनेवाले हैं। मात्र इस देह से धर्म होता है, इसलिए उसे पोषण देना है। देह से प्रीति करने योग्य नहीं है। मात्र यह देह भक्ति के लिए काम में आए, इसलिए उसे आहार देना, सुलाना, नहलाना आदि करना पड़ता है।

(७२) बो.भा.-१ : पृ.-२१४

पंचम काल में व्याधि-पीड़ा अधिक है, धर्मध्यान नहीं होता। ख्याल रखे तो हो। वरना आजीविका के लिए पूरा मनुष्यभव लुँटाया जाता है। जहाँ हो, वहाँ सत्संग, सत्शास्त्र का वाँचन रखें। तड़प नहीं, अतः संसारी निमित्त मिलते ही उसमें तल्लीन हो जाते हैं। अस्थिरता बहुत है, उसे बढ़ाने के निमित्त भी बहुत हैं। पूर्व की आराधकता नहीं, तभी ऐसा है। जन्म-मरण सिर पर घूमता है, जीव को मृत्यु की याद नहीं रहती। ज्ञानी के वचन इसके हृदय में चिपकते नहीं। सुना हो वह अनसुना हो जाता है। किंमती वस्तु लगी हो तभी तो संभाल रखे। मनुष्यभव किंमती वस्तु है। क्षण क्षण करते बहुत समय बीत गया। पर अब जागना है और अच्छा जीना है। जीव को समझ नहीं, अन्य के प्रति आकर्षित हो जाता है। तुच्छ वस्तु का जीव

माहात्म्य मानकर उसी में ही तल्लीन रहता है। तुच्छ वस्तुएँ जीव की चारों बाजु हैं, अतः आत्मा का माहात्म्य नहीं लगता। नाशवंत वस्तुएँ तो कभी भी नाश होनेवाली ही हैं, ऐसी की ऐसी रहनेवाली नहीं। पर की पंचात में समय न गँवाओ। अपने वास्तविक स्वरूप को जाना हो तो भवोभव में काम आएँ, परभव में भी साथ आएगें, परंतु जीव को माहात्म्य नहीं है। सत्संग में अपनी काम की वस्तुएँ सुनने को मिलती हैं। आवश्यक वस्तुएँ बार-बार सुनने से माहात्म्य लगता है। इस के लिए बहुत बोध की जरूरत है। कितने ही भवों की कमाई रूप यह मानवभव है। वह भी इस कलिकाल में कम आयु वाला है। कुत्ते-कौए के भवों में भटकते-भटकते यह मनुष्यभव बहुत पुण्य के योग से मिला है।

(७३) बो.भा.-१ : पृ.-२१९

प्रश्न : आयंबिल किया हो और रसवाले पदार्थों में मन जाता हो तो क्या विचार करना?

पूज्यश्री :- बहुत खाया है। खाया हुआ क्या बनें? विष्टा। जगत जूठ जैसा है। आत्मा का हित हो, ऐसे विचार करना। घी से हित है या ज्ञानी के वचनों से? ज्ञानी के वचनों से आत्मा का हित है, तो मुझे घी नहीं खाना। क्या करने आया और क्या कर रहा हूँ? यह विचार करो। जीव को आदत पड़ गई है, पर इसका फल क्या आएगा, नहीं जानता। कल्पना से या लोगों के कहने से रस में लुब्ध होता है। रस को जीते तो ज्ञानी के वचनों में रस आएँ। अभयदेवसूरिजी को आयंबिल करना ठीक पड़ा। बारह अंगों की टीका लिखने तक आयंबिल ही किए। आत्मा तरफ जाएँ तो लाभ हो। भारी खाया हो तो पचाने के लिए मेहनत करनी पड़े। यह आयंबिल का भोजन तो जल्दी ठिकाने जाता है। लोलुपता जीव को नीचे ले जाती हैं, अधोगति होती है।

कुमारपाल महाराजा ने सात व्यसनों का त्याग करके गृहस्थ के व्रत लिए। एक बार उसे घेबर खाते, "मांस का स्वाद ऐसा ही होता था।"

ऐसे विचार आएँ। उसने हेमचंद्राचार्य से पूछा कि मुझे ऐसे विचार आएँ हैं, तो क्या करुँ? गुरुने दांत तोड़ने का प्रायश्चित्त दिया। गुरु की आज्ञा से दांत तोड़ने लगा तो उसे रोककर गुरुने कहा कि तेरा प्रायश्चित्त हो गया। अब तूँ जिंदगीभर घेबर न खाना। तात्पर्य कि उसके भाव बदल कर लोलुपता से छुड़ाया।

"देह की जितनी चिन्ता रखता है, उतनी नहीं परन्तु उससे अनंतगुनी चिंता आत्मा की रख।"(श्री.रा.प.-८४) ऐसा कहा है। पर इसके चित्त में देह ही बैठ गया है। देह के ही विचार आते हैं, वे कम हों, उससे खाली पड़े तभी तो आत्मा के विचार आ सकते हैं। विचार करनेका अवकाश हो तो ज्ञानी कुछ बताएगें। यह तो दूसरी बातोमें चिपक गया है। मनुष्यभव में पाँच इन्द्रियाँ, सत्पुरुष का योग और सत्साधन मिले हैं, तो कमी किसकी है? पुरुषार्थ की।

प्रमाद छोड़े तो बहुत काम हो जाएँ। कृपालुदेव ने सारे दिन के विभाग किएँ हैं:- १ प्रहर भक्ति कर्तव्य, १ प्रहर धर्म कर्तव्य, १ प्रहर आहार प्रयोजन, १ प्रहर विद्या प्रयोजन, २ प्रहर निद्रा, २ प्रहर संसार प्रयोजन। 'पुष्पमाला' में हित हो वैसा कहा है। कृपालुदेव के वचन पढ़े तो सब हाथ में आएँ। पढ़े, विचारे, छूटने का लक्ष्य रखे तो काम हो। केवल श्रवण करने से जीव शिथिल हो जाता है। यह तो मैंने सुना है, उसे अलौकिक नहीं लगता। कोई नये जीव आए उसे लगता है कि यह तो कुछ अलग (अलौकिक) ही कहता है। ऐसा तो मैंने कभी नहीं सुना। पत्र, जो याद किएँ हों तो उनको विचारो; बोलते बोलते विचार जागे, इस तरह करो, तो आनंद आएँ। दुर्लभ वस्तुएँ हैं। ज्ञानी के वचनों का विचार आए तो दूसरी कमाई की अपेक्षा अधिक आनंद आएँ। कितने अनुभव का सार पत्रों में कह गएँ हैं। बहुत हितकारी है। अवकाश हो तो बीस दोहे, यम नियम, क्षमापना, बारह भावना या छः पद, कुछ भी विचारते रहना। जीव को बाह्य वृत्तियाँ रोकने में रस नहीं आता ।

ज्ञानीपुरुष का बोध सुनना, विचार करना और सत्संग करना। व्रत लेने को नहीं कहना हैं। पढ़ने के लिए भी नहीं कहना हैं। सत्संग करे, बोध सुने और विचारें तो पर को अपना नं माने। मोह को मंद करके आओ। यह तो मोह को बढ़ाकर आता है। जिसे आत्मा की कुछ लगनी लगी है और शोध करता हो उसे ज्ञानी के वचन पकड़ में आते हैं। लगनी न हो तो क्या हो? कर्म के कारण सब चित्र विचित्र दिखता है।

(७४) बो.भा.-१ : पृ.-२२६

क्षण क्षण में सब बदलाव है। बच्चा, हंमेशा छोटा नहीं रहता। हम जहाँ हैं वहाँ से कुछ आगे चलेंगें तो सब समझ आएगी।

"हुँ मारुं हृदये थी टाळ, परमारथ मां पिंड ज गाळ।"

'मैं, मेरा' निकाल देना। जागृति रखने से हो सकता है। क्रोध, मान, माया, लोभ का फल क्या आता है? नरक। और उसका नाश, अपरिचय करे तो हो। जीव चाहे तो कर सकता है। क्रोध आत्मा को जलानेवाला है। स्त्री, कुटुंब आदि में सिर कूटना पड़ता है। वहाँ शांति नहीं मिलती। जहाँ सत्पुरुष हो, वहाँ कलिकाल नहीं। यह जगह अपूर्व है, तीर्थस्थान है - छुटने का स्थान है। जीव जागृत हो तो सब समझ आएँ। महापुरुष जहाँ कदम रखते हैं, वहाँ तीर्थ है। त्याग, त्याग और त्याग यह कहना है। एक बार प्रभुश्रीजी ने त्याग, त्याग और त्याग, इस तरह बंदूक छूटे, वैसी आवाज करके कहा था। आखिर मोक्ष जाएगा तब कोई स्त्री-पुत्रादि को साथ लेकर जाएगा? मृत्यु आए तब सब छोड़ना पड़ता है। त्याग को भूले, छोड़े तो संसार है। चक्रवर्ती जैसे छः खण्ड का राज्य करते थे, पर दुःख लगा कि यह तो क्लेश है, खेदकारक है, तो छोड़कर चल निकले। यह न सोचा कि राज्य कौन करेगा?

त्याग अवस्था में ज्ञानी का योग हो तो अधिक लाभ हो। संसार की वासना निर्मूल हो जाए, इतनी इस में शक्ति है। संसार अच्छा होता तो छोड़ने को न कहते। अज्ञान के कारण अच्छा लगता है। अपनी शक्ति

अनुसार त्याग करना चाहिए। त्याग में सुख है, यह जीव को समझ नहीं। त्याग करे तो सुख लगे, पर त्याग का नाम लेते ही इसे दुःख लगता है। धर्म न करे तो लाख चौराशी में भटकता है। धर्म करे तो कर्म-क्षय कर सकता है।

(७५) बो.भा.-१ : पृ.-२२८

जीव से क्रोध, मान, माया, लोभ रोका नहीं जाता। क्योंकि वृत्ति बाहर भटकती है। वृत्ति का क्षय करो। मांगने पर भी न दो। अपने दोष विचार करके टालने हैं। जिसके लक्ष्य में भोग है, वह संसारी है। सब करके मुझे आत्म-शांति प्राप्त करनी है, ऐसा जिसे हो, वह साधु है। वह खाता-पीता हो तो भी त्यागी है और दूसरा कष्ट सहे तो भी संसारी है।

"भव तन भोग विरत्त कदाचित चिंतए;
धन जोबन पिय पुत्र कलत्त अनित्त ए।" (जिनेन्द्र पंच कल्याणक)

भोग रोग जैसे हैं, उसका फल दुःख है। धन, जवानी अनित्य है। ऊपर से अच्छा लगता है पर सब जहर-जहर है। मात्र आत्मा एक अमृत है, वह जो चाहे कर सकती है। जो मांगे वह मिलता है। शांति चाहिए तो शांति मिले। सारे जग से छूटना है। आज से ही मानो जन्मे हैं, ऐसा विचार आत्मा का करना है। मोक्ष-द्वार बंध नहीं, पुरुषार्थ करे वह मोक्ष में जा सकता है। "साधे ते मुक्ति लहे, एमां भेद न कोय।"

आहार की इच्छा दुःख ही है। इच्छा मात्र दुःख है। 'है इच्छा दुःख मूल।' ज्यों ज्यों समझ बढ़े त्यों त्यों इच्छा कम होती है। ज्यों ज्यों ऊपर के देवलोक में जाएँ त्यों त्यों संतोष अधिक होता है। ऊपर के देवलोक में (ग्रैवेयक आदि में) स्त्री की इच्छा नहीं होती। सर्वार्थसिद्धि देवलोक में सब एकावतारी होते हैं। त्याग का अभ्यास जितना इस भव में किया जाता है वह वहाँ कायम रहता है। मोहनीय कर्म का क्षय हो तब इच्छा का नाश होता है। दसवें गुणठाणे में इच्छा का क्षय हो फिर उसी भव में मोक्ष होता है। समकिती की इच्छाएँ रुक गई हैं। ज्यों ज्यों समझ बढ़े

और आगे जाते हैं त्यों त्यों इच्छाएँ मंद पड़ती हैं। जितना देहाध्यास छूटे उतनी इच्छाएँ कम होती हैं। पर वस्तु का आधार ही दुःख है। मुनि जंगल में रहते हैं। भूख लगने पर विचार करते हैं कि कल आहार के लिए जाएँगें, ऐसा करके चला लेते हैं।

देवलोक के मुकुट, अलंकार शाश्वत नहीं, सब पुद्गल हैं। देव, चक्रवर्ती बनना, सब पुण्य का खेल हैं। पुण्य नाश होते सब छोड़ना है। कृष्ण, नील और कापोत, ये तीन लेश्या वाले देवलोक में नहीं जा सकते। कषाय की मंदता न की हो, तो वहाँ नहीं जा सकते। कृष्ण लेश्या के बहुत भेद हैं।

प्रश्नः- खाएँ, पिएँ सब करें, पर राग-द्वेष न करें तो कर्म बंध हो?

उत्तरः- राग-द्वेष न करना, यह मात्र कहने की बात नहीं। बहुत कठिन बात है। चारों गति में दुःख हैं, देवलोक का सुख कोई हिसाब में नहीं। एक वचन सहन करना भाला सहन करने के समान है। भाला सहना सरल है पर वचन सहना बहुत कठिन है। आत्मा की जितनी महत्ता लगे उतना अंदर रुचे। कर्म देखता है इसके बदले आत्मा को देखो। दृष्टि बदले तो मोह कम हो। अन्यथा मोह न मरे। ऊपर ऊपर से देखना नहीं। ऊपर से देखना छल है। **मैं आत्मा हूँ, ऐसा जानकर सबको आत्मदृष्टि से देखना।**

(७६) बो.भा.-१ : पृ.-२३०

देह और आत्मा भिन्न हैं, ऐसा जानकर उसमें टिके रहने का पुरुषार्थ करना है। निर्धार हो तो भूल न हो। निर्धार होने में कमी हो और माना हो कि मैंने निर्धार किया, पर निमित्त मिलने पर वह टिके नहीं। मैं देह से जुदा हूँ। इस देह के लिए सारा दिन गँवाना नहीं। बाह्य वस्तु का जितना परिचय है उतना आत्मा का नहीं। देह परायी है, ऐसा लगा नहीं। देह, सुख भोगने का साधन है, ऐसी मान्यता है। आत्मार्थ के साधनरूप में इसे नहीं जानता। शरीर, दुःख का कारण है। वैराग्य से विचार करे कि यह देह मेरी नहीं।

"जड़ ने चैतन्य बन्ने द्रव्यनो स्वभाव भिन्न;
सुप्रतीतपणे बन्ने जेने समजाय छे;
स्वरूप चेतन निज, जड़ छे संबंध मात्र,
अथवा ते ज्ञेय पण परद्रव्यमांय छे;
एवो अनुभवनो प्रकाश उल्लसित थयो,
जड़थी उदासी तेने आत्मवृत्ति थाय छे;
कायानी विसारी माया, स्वरूपे समाया एवा,
निर्ग्रन्थनो पंथ भवअन्तनो उपाय छे।" १

इसमें सारा मोक्षमार्ग कह दिया है। जड़ वह जड़ और चेतन वह चेतन लगे। देह में खुश न हो, उदास हो तब आत्मवृत्ति हो। यही करना है।

"देह जीव एकरूपे भासे छे अज्ञान वडे,
क्रियानी प्रवृत्ति पण तेथी तेम थाय छे;
जीवनी उत्पत्ति अने रोग, शोक, दुःख, मृत्यु,
देहनो स्वभाव जीव पदमां जणाय छे;
एवो जे अनादि एकरूपनो मिथ्यात्वभाव,
ज्ञानीनां वचन वड़े दूर थई जाय छे;
भासे जड़ चैतन्यनो प्रगट स्वभाव भिन्न,
बन्ने द्रव्य निज निज रूपे स्थित थाय छे।" २

- श्रीमद् राजचंद्रजी

जीव उत्पन्न नहीं होता, जगह बदलता है। रोग, शोक, दुःख, मृत्यु ये सब देह के स्वभाव हैं। रोग हो तो शरीर में, मृत्यु हो तो वह भी शरीर का ही धर्म है। आत्मा मरता नहीं। जीव पद में अथवा ज्ञान पद में यह सब पता लगता है। जीव जड़ नहीं हो जाता, परंतु इसे देह का स्वभाव अपना लगता है। पर वस्तु के निमित्त से अपने में कल्पना कर के सुख-दुःख मानना, मिथ्यात्व है।

ज्ञानी के वचन जीव मान्य करे तो यह भेद दूर हो जाए। भ्रान्ति निकल जाए। जो जाने वह चेतन है, ज्ञान वह चेतन है। जागृति की जरूरत है। ज्ञान न हो, तब तक जागृत रहना। जब तक ज्ञानीपुरुष यों न कहे कि ज्ञान हुआ है, तब तक ज्ञानी हूँ, ऐसा मानना नहीं। मुझे जानना है, ऐसा रखना। स्वयं को ज्ञानी मान ले तो फिर किसी के पास से जानना वंद हो जाएँ। अतः फिर बोध भूल जाए और ज्ञान नहीं हो। मुझे ज्ञान है, ऐसा मानने में हानि है। अतः न मानने में लाभ है।

तीर्थंकर विचरते थे तब गणधर जैसे भी "भगवान जानते हैं" इस तरह रहते। (आनंद, गौतमस्वामी का दृष्टान्त उपदेश छाया-४) गौतमस्वामी ने ज्ञानी होते हुए भी देखा नहीं, उपयोग दिया नहीं। जाकर प्रभु से पूछा। पर इस से ज्ञान क्या जाता रहा? न मानने में कुछ गलत नहीं। 'मैं जानता हूँ', ऐसा मानना जीव को अच्छा लगता है, पर वह हानिकारक है, अशांति कर्ता है। मुझे सब मालुम है, ऐसा अभिमान हो तो ज्ञानी का कथन बैठे नहीं। गुणग्राही बनना। ज्ञानी का कहा मानना। ज्ञानी ने सत्य वस्तु जानी, वह अपने काम की है। जगत में कुछ भी प्रिय करने जैसा नहीं और "जो कुछ प्रिय करने योग्य है वह जीव ने जाना नहीं" (श्री.रा.प.-१९८) इतना हृदय में रहे तो काम हो जाए। प्रिय करने जैसा है वह ज्ञानी ने जाना है, सचेत रहे तो आगे बढ़े। जीव मर ही रहा है, विषय-कषाय रूप मृत्यु से जीव की आत्मशक्ति को हनन हो रहा है। जीव के ज्ञान के साथ जहर है, जिससे आत्मा मर रहा है। ज्ञानी की समझ से तैर सकता है। अपनी समझ से डूब रहा है। ज्ञानी ने क्या कहा, वह विचारें। अपनी समझ पर रख शून्य और चौकड़ी लगा दें, इस तरह प्रभुश्रीजी कहेते थे। अपनी समझ से अनादि से भटक रहा है। अन्य से उदास बनें तभी आत्मवृत्ति होगी। जड़ वस्तु विष जैसी है। जगत सब ठग जैसा है, जहाँ जाओगे ठगे जाओगे। कोई समझवाला हो तो वह जीत जाए।

एक बनिया था। वह परदेश में गया, बहुत धन कमाया। वापिस अपने घर आ रहा था। रास्ते में ठग-चोर मिल जाएँ तो कैसे धन का बचाव करुँ, इस के बारे में सोचने लगा। उसने सारा धन देकर तीन रत्न खरीद लिए। आगे चला। जंगल में ठग मिले। उसने रत्नों को वृक्ष की कोटर में छुपा दिया और भिखारी का वेष पहनकर जोर से बोलने लगा: 'रत्न बनिया जा रहा है, रत्न बनिया जा रहा है।' ठगों ने पकड़ा पर रत्न नहीं मिले। लोगों ने उसे पागल समझा। दो दिन वह ऐसे बोलता हुआ इधर उधर घूमता रहा। तीसरे दिन तीनों रत्न लेकर जाने लगा तब भी वैसे ही बोलता रहा। ठगों ने पागल समझकर कुछ न पूछा, जाने दिया।

ज्ञानी के वचन लक्ष्य में रखो। ज्यादा बुद्धिमान मत बनो। एक मंत्र मिला है, उसके पीछे लगे रहो। पागल बन जाओ, अगर आत्म हित करना है। लोग कौओं को पिंजरे में नहीं रखते, तोते को क्यों रखते हैं? बुद्धिमान बनने जाता है। होशियारी दिखानी नहीं तथा स्वयं को होशियार मानना भी नहीं। ज्ञानी ने कहा, वह ही सच है। ज्ञानी सब जानते हैं। ज्ञानी के कथन अनुसार काम करते रहो। एक भव ज्ञानीकी आज्ञामें जीवन समर्पित करो।

(७७) बो.भा.-१ : पृ.-२४०

लक्ष्य एक सत्संग का रखना, चाहे कहीं भी घूमो-फिरो। परन्तु लक्ष तो एक आत्मा का रखना। आत्म-हित कैसे हो? यह विचार करना। मनुष्यभव मिला है तो सच्ची वस्तु को प्राप्त करना। आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं है। रत्न-जैसी वस्तु है। मुफ्त में नहीं मिलती।

(७८) बो.भा.-१ : पृ.-२४९

जगतवासी जीवों को अच्छे निमित्त से अच्छे भाव होते हैं। खराब निमित्त से खराब भाव होते हैं। निमित्त तो अच्छे ही रखना। अच्छे निमित्त का उपादान भी अच्छा ही होता है। प्रभुश्रीजी कहते थे सुन सुन करो ! जैसा संग वैसा जीव होता है। अशुभ निमित्तों का त्याग करना। संसार, अशुभ निमित्त रूप और अनन्त कुसंगरूप हैं।

श्री ऋषभदेव भगवान ८३ लाख पूर्व वर्ष घर में रहे, संयम लेने का भाव न हुआ फिर इन्द्रने नीलांजना नामक अप्सरा को, जिसका आयुष्य क्षीण होने आया था उसे भगवान की सभा में नाच करने भेजा। नाचते-नाचते उसकी आयु पूरी हो गई। उस अप्सरा के शरीर के सव परमाणु बिखर गए, परन्तु इन्द्र ने विक्रिया से, किसी को पता न लगे, इस तरह फिर वैसी की वैसी अप्सरा नाचती हुई दिखाई। सभासदों को पता भी न चला कि अप्सरा की मृत्यु हो गई है। पर ऋषभदेव भगवान अवधिज्ञान वाले थे। अतः उन्होंने उपयोग से जान लिया कि यह मर गई है, उसे देखकर वैराग्य हो गया।

उपादान बलवान था, तथापि योग्य निमित्त मिला तो जग गए। अच्छे निमित्तो में रहना। सत्संग करना। उपादान कारण बलवान न हो और गलत पुरुषों का संग करें तो संसार बढ़ जाता है।

(७९) बो.भा.-१ : पृ.-२४९

स्मरण की आदत डालनी। किसी भी तरह से इच्छाएँ कम करना।

"हे जीव! क्या इच्छत हवे? है इच्छा दुःख मूल;
जब इच्छाका नाश तब, मिटे अनादि भूल।" (हा.१.१२)

कचरे में रत्न पड़ा हो तो बुद्धिशाली व्यक्ति रत्न पर दृष्टि करता है, विष्टा पर नहीं करता। उसी तरह देहरूपी कचरे में आत्मारूपी रत्न है, उस पर दृष्टि करना। देह, विष्टारूप है। जीव पुत्रादि पर मोह करता है और कराता है, वह आमने-सामने जहर पीता है और पिलाता है। जीव ने पितृत्व-मातृत्व करने में ही आनन्द माना है।

जीव यदि निरन्तर पुरुषार्थ में लगा ही रहे तो आठ दिन में काम हो सकता है। अंजन चोरने दृढ़ता से आकाशगामिनी विद्या सिद्ध करके मेरु पर्वत पर जिनदत्त सेठ के पास जाकर चैत्यालयों में पूजा करके, चारण मुनि के पास दीक्षा लेकर आठ दिन की आयु शेष होने से अनशन कर, कर्म क्षय कर मोक्ष गये।

विचार बहुत करना। दिवस में पन्द्रह मिनट भी विचार करो, एकांत में बैठ कर। स्मरण की आदत ड़ालनी। चलते-फिरते स्मरण करना। समाधि मरण करना हो तो रोम-रोम में परम प्रेम प्रगटाना होगा।

"पर प्रेम प्रवाह बढ़े प्रभु से, सब आगम भेद सुउर बसें।"

इस तरह रोज बोलते हैं, परन्तु परम प्रेम कैसा होगा? कैसे करना है? उस पर दृष्टांत वैष्णव का है, पर समझने जैसा है।

एक बार अर्जुन द्वारका गया। श्री कृष्ण की बहन सुभद्रा थी। उससे शादी हुई और वह वहीं रहने लगा। श्री कृष्ण तो रोज खाया न खाया कि तुर्त अर्जुन के पास जाकर बैठ जाता। रानियाँ विचार करती हैं कि अर्जुन के आने से इनका हम पर प्रेम कम हो गया है। सारा दिन वहाँ बैठे बैठे श्री कृष्ण क्या करते हैं, जा कर देखें। अर्जुन वनक्रीडा करके घर आया था। स्नान करके, थकावट होने से सो गया था। श्री कृष्ण और सुभद्रा उंगलियों से उसके बाल सुखा रहे थे, अर्जुन के सिर के पास ही बैठे थे। इतने में रूक्मणी वहाँ पहुचँ गई। श्री कृष्ण ने उसे देख कर इशारे से कहा, बैठ, तूं भी बाल सुखा। रूक्मणी भी बाल सुखाने बैठ गई। कृष्ण ने, बाल सुखे या नहीं, यह देखने के लिए अपने गाल से छुए और रूक्मणी को भी ऐसा ही करने का इशारा किया। रूक्मणी अर्जुनके बालों को थोड़ा सा कान के पास तक लाई तो उसे हर तार में से कृष्ण, कृष्ण ऐसी ध्वनि होती सुनाई दी। श्री कृष्ण ने कहा कि अर्जुन वन में जाए या नगर में, उसका चित्त तो मेरे में ही रहता है। नींद में भी इसे ऐसा ही है। भूलता नहीं। इस पर से रूक्मणी समझ गई।

ऐसा परम प्रेम ज्ञानी परमकृपालुदेव के प्रति अपने को रखना है, जिस से धर्म का मर्म समझ में आए और परिणामतः आत्मा शाश्वत मोक्ष को प्राप्त करे।

(८०) बो.भा.-१ : पृ.-२६२

मुमुक्षुः- सहजात्मस्वरूप का अर्थ क्या?

पूज्यश्रीः- आत्मस्वरूप जैसा है, वैसा। अपने स्वभाव में रहना अथवा कर्ममल रहित जो स्वरूप, वह सहजात्मस्वरूप। जैसे स्फटिक रत्न अन्य पदार्थ के संयोग से लाल, पीला, हरा आदि दिखता है, वह उसका सहज स्वरूप नहीं। जब अकेला-निर्मल स्फटिक रहे, तब उसका सहज स्वरूप है।

जितना सदाचरण होगा उतना ज्ञानीपुरुष का वचन अधिक समझेगा। वैराग्य की जरूरत है। अंतःकरण ज्यों ज्यों निर्मल होगा, त्यों त्यों समझ आएगी। "शुक्ल अंतःकरण बिना मेरे वचनों की दाद कौन देगा?" ढ़ीला न पड़ना। शुरुआत में जीव जोर करता है, बाद में ढ़ीला पड़ जाए तो कुछ न हो। काया में से क्या निकालना है? जीव सारा दिन और रात इस काया का ध्यान रखता है, टाप-टीप करता है और जो अंदर रहनेवाला आत्मा है, उसकी संभाल नहीं लेता। जो करना है वह पड़ा रहता है। स्वयं को भूलकर जो करता है, वह भूल है। पर वस्तु में चित्त है।

मुमुक्षुः- शुक्ल अन्तःकरण क्या है?

पूज्यश्रीः- बिना पाप का शुद्ध अन्तःकरण। त्याग-वैराग्य वाला चित्त।

(८१) बो.भा.-१ : पृ.-२६२

स्मरण का जोर अधिक रखना। चलते-फिरते भी स्मरण करना। बीस दोहे आदि तीन पाठ बार-बार भावपूर्वक बोलते रहना। जीव ने बहुत किया है, किन्तु भाव बिना सब लूखा हुआ है। सत्पुरुष का बहुत उपकार है। आत्मा को उन्नत बनाने वाले ज्ञानियों के वचन हैं। उन्हें जितना याद रखोगे, उतना कल्याण होगा। छः पद के पत्र में सम्यक्दर्शन रहा है। जब तक समकित प्रगट न हो तब तक ये छः पद का मर्म समजे ही नहीं। ज्ञानियों के वचन अमूल्य नहीं लगते। पैसा जपता है, मंत्र जप नहीं करता। कोई प्रेरक चाहिए। मुमुक्षु को अच्छा तो जीना है, पर प्रमाद रुकावट डालता है। आत्मा को भूलना ही प्रमाद है। विकथा करनी हो तो सारी रात जागे, पर स्मरण में नींद आ जाती है। अपनी भूलें शोध शोध कर

निकालना; अन्यथा मनुष्यभव ऐसे ही जाता रहेगा। ज्ञानी ने मंत्र दिया, वह ही मेरा है। वह आत्मा ही दिया है। मोक्षमार्ग पर जाना हो तो यह मंत्र जपना। अब शेष जीवन में यही करना है।

"मंत्रे मंत्र्यो स्मरण करतो काळ काढुँ हवे आ,
ज्याँ त्याँ जोवुं पर भणी भूली, बोल भूलुं पराया;
आत्मा माटे जीवन जीववुं लक्ष राखी सदाये,
पामुं साचो जीवन पलटो, मोक्षमार्गी थवा ने।" (प्रज्ञावबोध - ७५)

मंत्र से मन्त्रित हो जाना। पराए बोल भूलकर ज्ञानी के बोल में चित्त रखना। जगत के कामों का चाहे जो हो, पर अपने को तो कृपाळुदेव के वचनों में ही रहना है। प्रभुश्रीजी कहते थे, पागल हो जाओ। स्मरण में रहो।

(८२) बो.भा.-१ : पृ.-२६६

जो जो सुना हो उसका निवृत्ति में विचार करें। मनुष्यभव किसलिए मिला है? किसमें समय ज्यादा जाता है? क्षण-क्षण आयु बीत रही है। वैराग्य और उपशम बिना जीव का कल्याण नहीं। संसार में कुछ प्रिय करने जैसा नहीं। आज ही मानो मर गए, ऐसा कर लें तो थोड़े काल में बहुत काम हो जाएँ। घूमने जाते विचार करें कि आज पढ़ने में क्या आया था? क्या याद रहा? समय मात्र का प्रमाद न करें। एक समय में सित्तेर कोड़ा कोड़ी सागरोपम का कर्म यह मन बाँध सकता है। कुछ न हो तो स्मरण में मन रखना।

कृपाळुदेवके हाथ पैर देखना नहीं, पर आत्मा देखने का है। कायोत्सर्ग में खड़े है, वे शुद्धभाव में खड़े है। जिस तरह छोटे बच्चे को कोई मारे, तो वह तुरंत माँ के पास जाता है। उसी तरह हमें जब विकल्प आये, तब तुरंत ही कृपाळुदेव की स्मृति करें।

(८३) बो.भा.-१ : पृ.-२६६

वेदना में वृत्ति जाती हो, तो वहाँ से हटाकर स्मरण में जोड़ना। वेदना में ज्यादा बल करना है। क्षण-क्षण आत्मा की संभाल जीव बढ़ाएगा,

तो कल्याण होगा। स्मरण है वह कृपालुदेव का स्वरूप है। वेदना में गजसुकुमार जैसे महापुरुषों के चरित्र पर विचार करना। कृपालुदेव ने हमें स्मरण दिया है। वह कृपालुदेव का ही स्वरूप है यह लक्ष्य रखकर आत्मभावना करें।

कृपालुदेव की भक्ति और मनुष्यभव को सफल करने के लिए सात व्यसन का त्याग, प्रथम सीढ़ी है। वह न हो तो भक्ति न होगी। जीव मोह के आधीन हो जाता है, पर उस के फल का ख्याल नहीं करता। ज्ञानियों ने पाप छोड़ने के लिए कहा है। पाँच उदंबर फल अभक्ष्य हैं, उनमें बहुत जीव हैं, उनका त्याग करना। मक्खन इन्द्रियों को उन्मत्त करता है। भक्ति करनी हो तो इन्द्रियाँ वश में होनी चाहिए। शहद में भी बहुत जीव हैं। ये सात अभक्ष्य वस्तुएँ पाप बंधाने वाली, दुःख में ले जानेवाली हैं। इसका त्याग करें।

(८४) बो.भा.-१ : पृ.-२७४

मुमुक्षुः- पाँच इन्द्रियाँ कैसे वश हो? (उपदेशछाया-४)

पूज्यश्रीः- पाँच इन्द्रियों के विषय जड़ हैं। परवस्तु के संयोग से उत्पन्न होते हैं। परवस्तु में आत्मा का हित नहीं। जो वस्तु अपने साथ रहनेवाली नहीं, उसमें आसक्ति क्या करना? आसक्ति से संसार बढ़ता है, ऐसा विचार आए तो विषय तुच्छ लगें। सब का वास्तविक विचार एक सत्संग से होता है। मोह के कारण, जगत की वस्तुओं की महत्ता है। अविवेक के कारण पर वस्तु की महत्ता है। सत्संग से विचार जागते हैं। विचार से विवेक आए, तो पर वस्तु की महत्ता कम होती है। पंचेन्द्रियों के विषय पाँच साँप है। ऊपर ऊपर से अच्छे लगते हैं, पर इनमें रमण करें तो मृत्यु पाएँ। एक एक इन्द्रिय विषय के कारण जीव मर जाता है। रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्दादि विषय दुःखकारी हैं, उनका विचार करें तो फिर इनमें विश्वास नहीं आता।

पाँचों इन्द्रियों में एक जिह्वा इन्द्रिय वश हो, तो अन्य चार भी वश हो जाती हैं। सद्विचार सब का आधार है। जिह्वा इन्द्रिय में आसक्त हो

तो फिर इसे जीभ नहीं मिलती। एकेन्द्रिय बनता है। आगे पीछे का विचार करे तो आसक्ति न हो। अब जन्म-मरण नहीं बढ़ाना। पाँच इन्द्रिय के विषय बढ़ाने के लिए यह मानव देह धारण नहीं किया। यह आत्मा चिंतामणि जैसा है, जो मांगो, वह दे। अपनी होश नहीं। अपना विचार होता नहीं। पर वस्तु तरफ दृष्टि है। अज्ञान का भय लगा नहीं। संसार भय रूप लगे, तभी उपदेश भी काम करता है। बोध की कमी हे। सत्पुरुष के प्रति जितना स्नेह करना चाहिए उसका एक अंश भी नहीं। ज्ञानीपुरुष के प्रति प्रेम हो तो एक वचन भी काम कर जाए, उनका उपकार समझा नहीं। **"एक अंश साता से लेकर पूर्णकामता तक की सर्व समाधि का कारण सत्पुरुष ही है।"** (श्री.रा.प.-२१३) जो कुछ सुख मिलता है, वह ज्ञानीपुरुष से ही मिलता है। मूल कारण ज्ञानी पुरुष ही है।

(८५) बो.भा.-१ : पृ.-२७५

जगत में बहुत सारी बातें सुनने को मिलती हैं, पर अपने को तो बैठे बैठे स्मरण करना है। ज्ञानीपुरुष के वचनों में चित्त रहे तो जीव का काम हो जाए। जो रास्ता लिया है, उसी पर चलो। चार-पाँच जगह, चार-पाँच हाथ खोदे, तो पानी नहीं निकलता। एक लक्ष्य रखो कि काम एक आत्मा का करना है। देह का बहुत किया। मृत्यु का पता नहीं, अतः धर्म में ढ़ील न करो। कर लिया, वह काम। थोड़ा सुबह, थोड़ा दोपहर को, थोड़ा शाम को, नियमित काम करें तो बहुत हो सकता है। कहीं भी आसक्ति न होने दें। आयु कम है। प्रारब्ध अनुसार ही आना-जाना होता है। आत्मा का हित करना है। अल्प भी नियम लिया हो, तो तोड़ना नहीं। कच्चे पानी की अपेक्षा गर्म पानी पीने से विकार नहीं होते। प्रासुक पानी पीने से ब्रह्मचर्य को मदद मिलती हैं। संसार असार है। विरक्त भाव रखें। अशुभ निमित्तों में न जाएँ।

रात्रि को रोज भक्ति के बाद, कृपालुदेव के वचनामृत में से प्रभुश्री जी को लिखे हुए पत्रों में से क्रमशः प्रत्येक पत्र पढ़ने का नित्य नियम कर लें।

(८६) बो.भा.-१ : पृ.-२८८

"निश्चय राखी लक्षमां, साधन करवां सोय।"

व्रत नियम सब करना है, पर निश्चय चूके तो कुछ न हो। संसार का संसार रहता है। पुरुषार्थ करोगे तो अच्छा काल, संघयण सब मिलेगा। अनादि काल से यह चला ही आ रहा है कि कोई क्रियाओं को स्थापन करता है, कोई ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहता है, पर चाहिए दोनों। पक्षी दो पँख हों, तभी उड़ता है, एक पँख टूट जाए तो उड़ नहीं सकता। इसी तरह अकेली क्रिया या अकेले ज्ञान से मोक्ष नहीं होता।

डिग्री पाने जैसा समकित नहीं है कि अमुक पुस्तकें पढ़ने से हो जाएँ। सम्यक्दर्शन अपूर्व वस्तु है। इतनी पुस्तकें पढ़ें तो हो जाएँ, ऐसा यदि होता तो अनेक जीव समकिती हो जाते। ग्यारह अंग तक पढ़ने से भी नहीं हो पाता, ऐसा दुर्लभ है। और झटपट भी हो सकता है, पर इसके लिए बहुत तैयारी चाहिए। ज्ञानावरणीय ऐसा है कि पढ़े तो याद हो जाए, परन्तु ज्ञानीपुरुष मुख्य दर्शनमोह को निकालने के लिए कहते हैं। दर्शनमोह जाने के लिए बोध की जरूरत है। इतने समय तक मैं ने अपना विचार किया ही नहीं? इस विचार में इसे अपना अस्तित्व भासता है। अतः पहले अपना स्वरूप भासता है। ऊपर कर्म रूपी मिट्टी जम गई है, वह उखड़ जाए तो आत्मा प्रगट हो और इसे लगे कि आत्मा ही पहला है। पहले पाप से छूटना और शुभ मार्ग में रहना। पाप के विकल्प छूट जाएँ इसके लिए व्रत नियम करने को कहा है, किन्तु इसी ही में रहना नहीं। वृत्ति ज्ञान में रखना। जब सम्पूर्ण दशा हो, तब जीव स्वयमेव परमात्मा बन जाता है। प्रभुश्री पहले आत्मा को देखते। किसी भी वस्तु को देखते ही कहते, "यह भी साक्षात् मेरी आत्मा है, देखनेवाला साक्षात् आत्मा है।" दर्शनमोह को पहले क्षय करना है।

(८७) बो.भा.-१ : पृ.-३०८

मन जो दुरिच्छा करे वह इसे नहीं देना। विलास आदि को इच्छे, तो देना नहीं। मन के सामने होने से वश होगा। मन छोटे बच्चे के समान है। उसे वश रखें तो वश रहे, अन्यथा भटक जाए। विवेक की जरूरत है। जिसका फल संसार आए, वह इच्छा रोकनी है। जिस का फल मोक्ष आए,

वह इच्छा करनी है। सूक्ष्म अवलोकन की जरूरत है। मन कहाँ-कहाँ जाता है? क्या क्या इच्छाएँ करता है? क्या संकल्प-विकल्प करता है? वह थोड़ी-थोड़ी देर बाद देखते रहें। मन पर चौकी रखें। अन्यथा निरंकुश हो जाए। कोई भी चीज-वस्तु की आदत (आसक्ति) मत बना लेना। अन्यथा कर्म बंध हो। जिसे छूटना है, उसे नए कर्म बंध से बचने का पुरुषार्थ करते रहना। कर्म बंधानेवाला मन है।

"क्या इच्छत? खोवत सबै, है इच्छा दुःख मूल;
जब इच्छा का नाश तब, मिटे अनादि भूल।" (हा.१-१२)

इच्छाएँ रोकना है। अपनी इच्छा से वर्ते तो संसार बढ़े। ज्ञानी की आज्ञानुसार वर्ते तो मोक्ष हो। स्वच्छंद हो तो संसार होता है, आज्ञा से मोक्ष होता है। ज्ञानी का कथन मान्य हो और लोगों का कहा अमान्य हो, ऐसा करो। सांसारिक लौकिक भाव में मन खिंचे तो वहाँ से रोकना। मन को कुछ काम चाहिए, खाली रहे तो अनादि की आदत अनुसार कर्म बांधता है। प्रमाद से कर्म बंध होता है, वह महा शत्रु है।

(८८) बो.भा.-१ : पृ.-३१२

मुमुक्षु जीवों का आत्महित किस से हो? ऐसी दयावाले महापुरुष होते हैं। सोभागभाई को यह भावना रहती कि कृपालुदेव दीक्षा ले तो जीवों का कल्याण हो, पर उनके प्रारब्ध का उदय ऐसा है कि बहुत समय तक उपाधि में रहना पड़ता है, उसमें उन्हें ममत्व नहीं अतः खेद नहीं होता, पर आत्मा गौण हो जाता है, वह दुःख है।

"त्यां आव्यो रे उदय कारमो, परिग्रह कार्य प्रपंच रे;
जेम जेम ते हड़सेलीए, तेम वधे न घटे एक रंच रे।"

ऐसे समय में वीर्य अधिक स्फुरायमान करना पड़ता है। इन्हे तो यह उपाधियोग एक परिषह जैसा है। व्यापार के काम में उपयोग देना पडता है। 'उपाधि योग का विशेष प्रकारसे उपयोग द्वारा वेदन करना पड़ा है।' (श्री.रा.प.-४५३)

एक तो अवसर्पिणी काल है। आयु-पुण्य सब कम है। अच्छी सामग्री थोड़ी रहती है। दूसरा, अनार्य लोगों ने भारत में आकर लोगों की वृत्तियाँ अपने वर्तन तरफ खींचीं और उसका भी बम्बई जैसे क्षेत्रमें तो ज्यादा असर है। आत्मा का तो किसी को ख्याल नहीं। सारी जिंदगी आमदनी करता है। आत्मा का कल्याण करने के संस्कार हों तो भी अनार्य जैसे क्षेत्र में जाएँ, तो भूल जाएँ, दूसरे संस्कार पड़ जाएँ। जीव परमारथ भूल जाता है। व्यापार का ही ख्याल रखनेवाले चारों तरफ होते हैं, आत्मा का चाहे कुछ भी हों, यों कहते हैं। परमारथ भूले बिना रहना, बहुत मुश्किल है। वैराग्य हो, वह परमारथ नहीं भूलता, पर ऐसे क्षेत्र में तो भूल जाता है। आनंदघनजी के काल में जैसा दुषम काल था, उसकी अपेक्षा तो यह काल बहुत विषम है।

"उदरभरणादि निज काज करता थका, मोह नड़िया कलिकाल राजे।"

कृपालुदेव के काल की अपेक्षा यह काल कितना विषम आया है? कलिकाल तो बढ़ता ही जा रहा है। व्यवहार की नीति भी अच्छी नहीं रही। इस काल से बचना हो तो सत्संग एक साधन है। कृपालुदेव को सत्संग की कितनी इच्छा रहती! पूर्वभव में उन्हों ने सत्संग बहुत किया था। निरंतर सत्संग की उपासना ही इस कलियुग से बचने का साधन है। जिसे किसी भी प्रकार की इच्छा प्रायः उत्पन्न नहीं होती, उसे भी यह कलिकाल समय-समय थका देता है। उसे भी तिरने के लिए पुरुषार्थ करना पड़ता है। जितना बल हो, सब लगाना पड़ता है। सत्संग सत्संग सारा दिन करता रहता है। सत्संग हो तो आत्मभाव को पोषण मिले, अन्यथा वृत्ति ठिकाने रखनी बहुत मुश्किल है। मोह के साथ लड़ना पड़ता है। सत्संग की तृषा लगती है, पर सत्संग का योग मिलता नहीं। क्षेत्र, प्रारब्ध या किसी के भी प्रति द्वेष भाव न हो, इसका ख्याल रखते है और समभाव में रहते है। सम्यग्दर्शन बचाता है। इतनी सब प्रवृत्ति करने पर भी इन्हे लगता है कि आत्मा मानो कुछ नहीं करता।

"चेतन जो निज भानमां, कर्ता आप स्वभाव।"

कर्म आकर चले जाएँ और नए न बंधे तो तो कर्ज पूरा हो जाएँ। उनका आत्मा समभाव में रहता है। व्यवहार करते हुए भी कर्म की निर्जरा होती है। जब से सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ तब से सब असार लगता है, पर प्रारब्ध के कारण उपाधि में रहना पड़ता है। कर्म पकड़कर रखता है, यह उपाधि है इससे ज्यादा और कर्म जल्दी क्षय हों, तो सहन करने की इनकी इच्छा है। चित्त निर्ग्रंथ दशा के योग्य हो गया है। इच्छा कोई भी रही नहीं। कृपालुदेव को ज्ञान था कि आगे-पीछे के कर्म देख सकते थे। निर्ग्रंथ दशा पाने की भावना रहती, पर बीच में प्रारब्ध द्वारा बाधा आने से परेशानी रहती थी।

"ज्ञानी के अज्ञानी जन, सुख दुःख रहित न कोय,
ज्ञानी वेदे धैर्य थी, अज्ञानी वेदे रोय।" (श्री.रा.प.१५)

ज्ञानी जानता है कि यह भोगना है, अतः धैर्य रखता है। आत्मज्ञान होने पर बहुत जीवों को लाभ हो, ऐसे संभव के बावजुद भी प्रारब्ध ऐसा है कि किसी का हित किया नहीं जाता। कोई द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में कहीं भी राग-द्वेष होता नहीं। जगत की कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती, पर सत्संग की इच्छा रहती है। निवृत्ति क्षेत्र-काल की भावना रहती है, वह एक आत्म विचार करने के लिए होती है। सर्वसंग परित्याग अभी हो नहीं सकता, पर निवृत्तिक्षेत्र का योग कब मिले, कब मिले ऐसी इच्छा रहती है।

सोभागभाई को कृपालुदेव लिखते हैं कि आपके समागम की अभी विशेष इच्छा रहती है। वह भी सहजता से हो, तो करना है। आपको यहाँ बुलाकर सत्संग करे, ऐसा नहीं रहता। क्योंकि यह क्षेत्र (मुंबई) उपाधिवाला है, अतः चाहिए वैसा लाभ नहीं होगा। उदय ऐसा है कि जबरदस्ती से आत्म साधन किया करते हैं। सोभाग्यभाई को कृपालुदेव लिखते हैं कि आप भी समभावपूर्वक उपाधि योग को जानना, मौनपूर्वक जानना। ऐसे करुं, वैसे करुं, तो यह उपाधि योग मिटे, ऐसा विकल्प न करना, समभाव से सहना। समभाव से बहुत निर्जरा होगी।

सत्संग हो तो आत्मा की बातें हो, पर ऐसा योग नहीं। सत्संग की इन्हें कितनी लगनी है? ज्यों ज्यों विशेष समझ आएँ, त्यों त्यों विनय-लघुता बढ़ते हैं। जैसे फल आने से ड़ाली झुकती है, वैसे समझ आने से नम्रता आती है। 'दासानुदास रायचंद्रका प्रणाम पढ़ना' (श्री.रा.प.४५३) ऐसे लिखते हैं।

(८९) बो.भा.-१ : पृ.-३२४

जीव को कल्याण करना हो, तो सब से उत्तम साधन सत्संग है। थोड़े समय में बहुत काम हो जाता है। प्रभुश्रीजी कहते कि आपके कोटि कर्म खप जाते हैं। सत्संग में जगत को भूल जाता है। इसमें एकाग्रता आने से बहुत कर्म की निर्जरा होती है। अभी आठों कर्मों का उदय है, पर ज्ञानी के वचनों में उपयोग हो तो कर्म आकर चले जाते हैं।

चौथे काल में भी सत्संग दुर्लभ था, तो इस काल में दुर्लभ हो तो इसमें आश्चर्य क्या? सत्पुरुष के चरण समीप का निवास दुर्लभ है। सत्पुरुष अर्थात् जिसने आत्मा जानी है ऐसे ज्ञानी की प्रवृत्ति भी प्रवृत्ति नहीं मानी जाती। उनकी प्रवृत्ति गर्म पानी जैसी है, पर स्वभाव तो शीतल ही है। प्रवृत्ति करने पर भी ज्ञानी के कर्मों की निवृत्ति होती है, समाधि रहती है। तथापि ज्ञानी, निवृत्ति चाहते है उनको निवृत्ति हो तो दूसरों को भी उपकारक बने। जहाँ जिसे रस लगा हो वहीं उसका मन जाता है। कृपालुदेव को व्यापार करना पड़ता तथापि वहाँ बैठे भी सत्संग, वन, उपवन, सद्गुरुयोग, जो पूर्वभव में था वह याद आता था, पर जो कर्म बाँधे हैं, वे तो स्वंय को ही भोगने होते हैं।

प्रत्येक मुमुक्षु को क्या करना? कल्याण में विघ्नकर्ता क्या है? वह जान कर दूर करना। विचार करे तो समझ आती है कि मुझे यह विघ्नकर्ता है और उसे निकालने का उपाय भी मिले। मुमुक्षुता का लक्षण अपने दोष देखने में अपक्षपातता अर्थात् दोषों के प्रति लापरवाही न रखना, उनको निकाले बिना छुटकारा नहीं, ऐसा रहे। अब सामान्य दोष कहते हैं, मल, विक्षेप और अज्ञान ये अनादि के तीन दोष हैं। मल अर्थात् कषाय, विक्षेप

अर्थात् मन का दूसरें में खिंच जाना और अज्ञान अर्थात् अपनी होश नहीं; इन दोषों में जीव अनादि से खिंचा है। ज्ञानी के वचनों का यथार्थ विचार हो तो अज्ञान जाएँ। अज्ञान अंधेरे समान है। ज्ञान दीपक आएँ तो अज्ञान अन्धकार जाएँ। अज्ञान का बल बहुत है। अज्ञान दूर करने के लिए मल और विक्षेप पहले टालना पड़ें। इसके लिए सत्संग उत्तम साधन है। मल (कषाय) मिटाने का पहला साधन है सरलता, जीव सरल स्वभावी हो तो ज्ञानी के वचन न समझा हो, तो मैं नहीं समझा, ऐसा मानता है। दूसरा, क्रोध को दूर करने के लिए क्षमा गुण है, क्षमा अर्थात् सहन करना। मान हो तो जीव अपने दोष देखता नहीं। मान छोड़ने के लिए विनय करो। लोभ को दूर करने के लिए आरंभ-परिग्रह दूर करो। ज्यों ज्यों उपाधि कम करे, त्यों त्यों समाधि सुलभ बनती है। भटकने वाला मन है, वह ज्ञानी की भक्ति में जुड़े तो सारे जगत का त्याग हो जाएँ और विक्षेप मिटता है। दोषों को कहकर, दूर करने का उपाय भी बताया। अब जितनी जरूरत हो, उतना काम करो। ज्ञानी के प्रति अत्यंत भक्ति हुई हो, तो चित्त उसीमें रहता है।

वियोग में ज्ञानी की दशा लक्ष्य में आई हो तो उस पर विचार करना, ज्ञानी की चेष्टाएँ याद करनी। हाथ या आँख की चेष्टा से ज्ञानी ने जो कहा हो, वह याद करना। उनके वचन याद करके विचारना या पढ़कर विचार करना, समझना। सत्पुरुष का जब योग न हो, प्रवृत्ति का योग हो तब अधिक सावधानी रखना। सत्पुरुष के वियोग में बहुत सावधानी रखना। ज्ञानी के योग में जो सुना हो, वह भूल न जाना। घर, ज्ञाति, या अन्य का काम हो तो उसमें बड़े बनकर आगे न रहना। व्यवहार करना पड़े तो मुश्किल से करना। निवृत्ति की खींच रखनी। अनेक भवों में धर्म के विचार न आएँ, अब मनुष्य भव मिला है और ज्ञानी का योग मिला है, तो धर्म कर लो।

आत्मा का परिचय करने में क्या कठिनाई है? लोकसंज्ञा में लोग जैसा कहते हैं, वैसा यह जीव करता है। ओघसंज्ञा में अविचार है।

असत्संग में विपरीत विचार आते हैं। ये सब कारण जीव को आत्मा का परिचय करने में बाधक बनते हैं। ज्ञानीपुरुष से जीव कितना दूर रहता है? व्यर्थ में समाचारपत्र, तेरी-मेरी बातों में बहुत समय गँवाता है। आत्मा का कल्याण कुछ न हो, ऐसी निःसत्व क्रिया में लगा रहे तो मानवभव हार जाएँ। मनुष्यभव का पल-पल दुर्लभ है। कभी इसे समकित हो जाए, कभी जीवको चारित्र आ जाए, कभी केवलज्ञान हो जाए, कभी मोक्ष हो जाए, ऐसी ऐसी मनुष्यभव की दुर्लभ क्षणें हैं। असत्संग, असत्शास्त्र, असद्गुरु से जीव वापिस न मुड़े, इनको आत्मघाती न माने - न जाने, तब तक इसे आत्मस्वरूप समझ में न आएँ। ज्ञानी का एक-एक वचन कल्याणकारी है। जीव में दूसरे संस्कार होने से समझ में नहीं आता। बहुत सावधानी की जरूरत है, इसके बदले जीव अभिमान में अकड़ा रहता है।

आत्मस्वरूप की बातें करनेवाले तो बहुत मिलते है, पर जिसने आत्मस्वरूप पा लिया है, उनसे आत्मा जाने बिना आत्मा प्राप्त होता नहीं। जहाँ आत्मस्वरूप प्रगट है, वहीं से ही प्राप्त होता है, ऐसा दृढ़ निश्चय करना। ज्ञानीपुरुष के बिना मैंने आत्मा जाना है, ऐसी कल्पना नहीं करना। जगत में चमत्कार के पीछे लोग भागते हैं, पर आत्म-कल्याण करना हो तो ज्ञानी के बिना नहीं होता। ज्ञानी के सत्संग की निरंतर भावना रखना। प्रवृत्ति करनी पड़ती हो तो उदासीनता रखना। अपने बड़प्पन के लिए किसी प्रवृत्ति में डूब मत जाना।

सत्पुरुष का योग न हो तब सत्संग की भावना रखना। सब साधनों में सत्संग मुख्य साधन है। जब सत्पुरुष का सत्संग नहीं तब यह न करें कि चलो व्यापार कर लें। पर मुमुक्षु परस्पर मिलकर सत्संग करें। प्रवृत्ति करनी पड़ती हो, तब बड़ाई की इच्छा नहीं रखनी। प्रमाद न करो।

मुमुक्षु को कैसे जीना, वर्तन करना यह सब लिखा हैं। कृपालुदेव को एक पन्ना लिखने की ईच्छा थी। एक लिखा, फिर दूसरा लिखा, इस तरह आठ पन्ने लिखे। ऐसा उदय कभी ही इन्हें होता। अन्त में लिखते हैं, 'हम सत्संग और निवृत्ति की कामना रखते हैं। तो फिर आप सब को यह

रखना योग्य हो, इसमें कोई आश्चर्य नहीं हैं। हम अल्पारंभ, अल्प परिग्रह के व्यवहार में वैठे प्रारब्ध निवृत्तिरूप चाहते हैं, महा आरंभ और परिग्रहमें नहीं पड़ते। तो फिर आपको वैसा वर्ताव करना योग्य हो, इसमें कोई संशय करना योग्य नहीं है।' (श्री.रा.प.-४४९)

(९०) बो.भा.-१ : पृ.-३५०

प्रश्न :- सद्‌गुरु की यथातथ्य पहचान का क्या अर्थ?

उत्तर :- सद्‌गुरु की देह नहीं, उनकी आत्मा की पहचान करो। प्रभुश्रीजी बहुत गंभीर थे। विभाव में आए तो स्वभाव का नाश होता है, अतः विभाव में नहीं आना, चाहे देह भी क्यों न छूट जाएँ लेकिन विभावमें आना नहीं है। ऐसा ज्ञानी को होता है।

(९१) बो.भा.-१ : पृ.-३५१

प्रश्नः- हमें एकासणा, उपवास, नियम आदि जो करना हो वह भगवान को पूछकर करें ?

उत्तरः- हाँ, **आणाए धम्मो, आणाए तवो।** आपने जो सुख जाना है, अनुभव किया है, वह सुख पाने के लिए आपकी आज्ञा से यह नियमादि करता हूँ, इस तरह चित्रपट के आगे भाव करना। ज्ञानी की आज्ञा विरुद्ध कुछ न करना। ज्ञानी प्रत्यक्ष हो तो पूछकर करें और जो प्रत्यक्ष न हो, तो चित्रपट को प्रत्यक्ष ज्ञानी जानकर, हे भगवान ! आप की आज्ञा से यह व्रत करता हूँ। इस तरह भावना करके व्रत-नियम आदि करना।

(९२) बो.भा.-१ : पृ.-३५१

प्रश्नः- पर प्रेम प्रवाह बढ़े प्रभु से' का अर्थ क्या?

उत्तरः- जीव के पास प्रेम रूपी मूड़ी है, वह शरीर में, कुटुम्ब में ड़ाल देता है, उन सबसे हटाकर सत्पुरुष के प्रति परम प्रेम करना है। प्रेम, संसार में रुक गया है। प्रेम की जितनी शक्ति है वह सब प्रभु के प्रति लगाएँ तो वह पर प्रेम यानी परम प्रेम है। प्रेम, आत्मा है।

(९३) बो.भा.-१ : पृ.-३५१

जहाँ वहाँ भी संसार के कार्योमें उदासीनता बनी रहे ऐसा करना। वैराग्य, उपशम के बिना काम नहीं होगा। काल ऐसा है कि सब के मन एकसरीखे नहीं होते। क्लेश मिटे, वैसा करें। समभाव में रहना है उसके लिए प्रयत्न करें। ऐसा हो तो क्या और वैसा हो तो क्या? इस तरह संसार के कामों में उपेक्षा रखना। ज्यादा समय धर्म में जाएँ वैसा करना। कर्म के आगे तो किसी की चलती नहीं। समझ बढ़ेगी उतना सुखी होगें।

श्री.रा.प.-३७ *(९४) बो.भा.-२ : पृ.-१२

प्रभु पार्श्वनाथ को कमठ ने उपसर्ग किया और इन्द्र ने स्तुति की, दोनों में भगवान ने समता रखी। कृपालुदेव ने कहा है कि निन्दा करे, उस पर हमें द्वेष नहीं हैं। जगत भला-बुरा कहे, इससे कुछ कल्याण नहीं होता। लोक का भय जीव को लगता है। आत्मार्थी जीव को तो जगत चाहे जो कुछ भी कहे, पर जो अच्छा हो, वह कर लेना चाहिए। आत्मा की सिध्धि के लिए सब क्रियाएँ हैं। आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं। जिसे सत्संग है, उसे योगाभ्यास की कोई जरूरत नहीं। सब क्रियाओं में गुरु की मुख्यता है। गुरु की आज्ञा चूक जाएँ तो खेल खतम। सत्संग में जो रंग लगता है, वह छूटता नहीं। चक्रवर्ती हो, तो भी अपने राज्य को तुच्छ जानकर छोड़ देता है और आत्मा में लग जाता है। आत्मा का हित करना है। सद्‌गुरु का प्रसंग करना है। ज्ञानी की आज्ञा से करना है। आत्मा का हित करने उठे तो जगत चाहे जो भी कहे, उस तरफ देखना ही नहीं। जिसे आत्म समाधि करनी है, उसे जगत को भुला देना होगा। कृपालुदेव कहते कि लोग चाहे जो भी कहें, पर आप उन्हें कुछ न बोलें, मौन रहें। भगवान को भूलना नहीं। मुझे मोह छोड़ना है, मुक्त होना है, यह इच्छा रखो। भगवान तो निराकार हैं, अतः ख्याल में नहीं आते परन्तु शांत भाव वाली मूर्ति हो, तो उसे देखकर जगत भूल सकता है और भगवान के गुणों में लीनता आ सकती हैं, उल्लास हो सकता है। अपने भावों के परिवर्तन के लिए, जगत

---

*यहाँ से बोधामृत भाग - २ (श्री.रा.वचनामृत विवेचन) का प्रारंभ होता है।

के भाव भूलकर भगवान के गुण-स्मरण के लिए मूर्ति है। कुछ लोगों को जिन-प्रतिमा देखकर समकित होता है। भगवान के समवसरण में भगवान का प्रभाव ऐसा है कि सब जीव शत्रुभाव भूलकर, मैत्री भाव वाले हो जाते हैं। यह सब प्रभाव केंवलज्ञान का है।

निर्मोही कुटुम्ब के दृष्टान्त को स्मरण करो। वह कथा बहुत उपयोगी है। सारे जगत का मोह उतारने वाली है।

उपयोग शुद्ध करना हो तो जगत के संकल्प-विकल्पों को भूल जाना, जगतवृत्ति को भूल जाना। अति दुर्लभ वस्तु श्रद्धा है। यह श्रद्धा हुई तो चमत्कार आदि कुछ कामके नहीं हैं। भगवान महावीर ने जैसा कहा है, वैसा अन्य किसी ने नहीं कहा। भगवान की शिक्षा की विराधना हुई हो, तो उसका पश्चाताप करना। मन, वचन, काया ज्ञानी की आज्ञा में रखना। जगत के दर्शनों को भूल जाना। सभी मान्यताएँ भूल जाना। जैन संबंधी भी सब ख्याल भूल जाना। ज्ञानी कहे, वही सच्चा। महापुरुष की आत्मा में वृत्ति रहनी चाहिए।

मुझे संकल्प-विकल्पों को भूल जाना है। जगत चाहे जो भी कहे, मुझे कुछ लेना-देना नहीं। पूर्व में कर्म बाँधे हैं, उन्हें छोड़कर जाना है, मुक्त होना है। इसके सिवा मेरी कोई ईच्छा नहीं, ऐसा कृपालुदेव कहते हैं। हमें भी वही ईच्छा करनी है। संकल्प-विकल्प से अस्थिरता होती है। राग-द्वेष को छोड़ें, तभी मोक्ष है। आत्मा को पूछो, "राग-द्वेष को छोड़ने में तुझे कोई दिक्कत आती है?" सभी ने सुना तो है कि राग-द्वेष न करना, पर उपयोग नहीं रहता, भूल जाते हैं। राग-द्वेष छोड़ना हो, तो राग-द्वेष जिसमें नहीं हैं, उनमें वृत्ति रखना।

श्री.रा.प.-४७ (९५) बो.भा.-२ : पृ.-१४

पूज्यश्रीः- सात प्रकृति जब तक उपशम, क्षयोपशम या क्षय होवें नहीं, तब तक चाहे कितना भी पढ़े, तथापि देहाध्यास नहीं छूटता। आत्मा को कर्म-बंध न हों, इस तरह रहें। अभी जीव शरीर की देखभाल करता है। देह में रही हुई आत्मा को अब संभालना है। सात प्रकृति के क्षय के लिए छःपद कहे हैं। ज्ञान, दर्शन, भक्ति की आराधना से देह भाव छूटे।

"आत्मसिद्धि" इसीलिए ही लिखी है। ज्ञानी की आज्ञा मुझे मानना है, ऐसा भाव आएँ, तो देहभाव छूटता है। प्रथम यही करना है। जिसे सम्यक्‌दर्शन हुआ है उसके वचनों की और उसकी श्रद्धा रखना है। ऐसा करने से कर्म मार्ग देते हैं। पहले सत्संग करके ज्ञानी को पहचानना। फिर भक्ति जगाना, तब 'सद्‌गुरु की आत्मा की चेष्टा में वृत्ति' रहेगी, यह भक्ति का फल है। अधिक सोचना है। जीव ने पढ़ाई तो बहुत की हैं, पर सोच समझ नहीं की, बहुत विचार करनेकी आवश्यकता है।

"छूटे देहाध्यास तो, नहि कर्ता तुं कर्म;
नहीं भोक्ता तुं तेहनो, एज धर्मनो मर्म।" ११५ आ.सि.

जीव धर्म समझा तभी कहलाएगा कि जब देहाध्यास छूटे। आत्मा से भिन्न वस्तुओं में मुझे मोह नहीं रखना है। देह का चांहे जो भी हो मुझे आत्मा का कल्याण ही करना है। इसके लिए सद्‌गुरु को देह अर्पण कर देना। ज्ञानी कहते हैं कि दुःख होता है, वह देह का धर्म है तो उसे श्रद्धापूर्वक मानना। ज्ञानी की ओर दृष्टि रखनी है।

"मानादिक शत्रु महा, निज छंदे न मराय;
जातां सद्‌गुरु शरणमां, अल्प प्रयासे जाय।" १८ आ.सि.

सद्‌गुरु का शरण सम्यक् प्रकारसे ग्रहण हुआ हो, तो फिर ममत्व भाव नहीं होगा। मानादिक को शत्रु कहा, तो वे मुझे नहीं रखने, निकाल देने हैं। आत्मा नहीं दिखती। सम्यक्‌दर्शन हो, तो आत्मा की प्रतीति हो। सम्यक्‌दर्शन होने के बाद सम्यक्‌चारित्र के लिए पुरुषार्थ करना है। समकिती जीव अंतरात्मा है। फिर परमात्मा बनने के लिए पुरुषार्थ करना है। पर में वृत्ति जाएँ, वह सब प्रमत्त भाव हैं।

श्री.रा.प.-६२ (९६) बो.भा.-२ : पृ.-१५

पूज्यश्रीः- आत्मा को बाह्य वस्तु का, खाने-पीने का अनुभव है, आत्मा का सुख तो जीव ने किसी भी काल में जाना नहीं, चखा नहीं, देखा नहीं। आत्मा कोई अपूर्व वस्तु है। मन की गति भी वहाँ पहुँचती नहीं।

'जहाँ मति की गति नहीं, वहाँ वचन की गति कहाँ से हो?'(श्री.रा.१७२)

धर्मध्यान से मोक्षमार्ग की शुरुआत होती है। इस काल में वस्तु स्वरूप समझ में आए तो धर्मध्यान हो सकता है।

धर्मध्यान के चार भेद हैं, १. पिण्ड़स्थ २. पदस्थ ३. रूपस्थ ४. रूपातीत। इस काल में रूपातीत तक धर्मध्यान की प्राप्ति हो सकती है। धर्मध्यान करना हो तो एकान्त स्थल में रहना चाहिए। कोई त्याग करके ध्यान करता है। कोई गृहस्थाश्रम में रहते हुए ध्यान करता है। जैसे किसीको समुद्र में नहाने जाना हो तो वह पहले घर में वस्त्र उतार कर जाता है और कोई वहाँ जाकर उतारते हैं। इस तरह नहाने की तैयारी दोनों करते हैं। जीव को धर्म की पहचान नहीं है। जिस की पहचान नहीं उसका ध्यान क्या?

मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ यह चारों भावना हों तो धर्मध्यान हो सके, वरना न हो। सब को मित्र गिने, स्वयं जैसा सुख चाहता है, वैसा सुख अन्य जीवों को भी मिले, ऐसी इच्छा करें, किसीको दुःख न मिले। सब को मित्र गिने तब उसे कोई कुछ भी कहे पर दुःख न लगे। मैत्री भाव से द्वेष जाता है। अज्ञानी जीव शरीर को भला-बुरा मानता है। सम्यक्दृष्टि हर्ष-शोक नहीं करता। कोई निन्दा करता हो या प्रशंसा करता हो तो भी हर्ष-शोक न हो तो माध्यस्थ भावना है। सारे जगत के जीव कर्म के उदय में बह जातें हैं, पर ज्ञानी नहीं बहता, बलवान है। कर्म के उदय में न बहें तो माध्यस्थ भावना है।

"कैसे छूटें?" यह ज्ञानी के पास से समझा नहीं, तब तक श्वास रोके, प्राणायाम करें तो संसार की वृद्धि है।

श्री.रा.प.-८५ (९७) बो.भा.-२ : पृ.-१७

विचार कर के बोलें तो पश्चाताप न करना पड़े। जिसे बातों की आदत पड़ी हो, वह किसी भी तरह की बात करता ही रहेगा। दूसरे को कितना बुरा लगेगा, इसका उसे विचार ही नहीं आता। 'वचन नयन यम

नांहि' रोज बोलते हैं। वचन से बहुत वैर और पाप बंध जाता है। आँख से भी बहुत पाप बंध जाता हैं। इन दोनो को संयम में लाएँ तो बहुत पाप से बच सकते हैं। इन से वापिस मुड़े तो आत्मा में रह सकते हैं।

सातों नरकों में दुःख हैं। उनमें से भी सातवी नरक में ज्यादा दुःख है। वह तो सहन हो सकता है। पर मोह का दुःख नहीं सहा जाता, कृपालुदेव ऐसा कहते हैं। सच्चा दुःख तो जीव को मोह का है। मोहनीय के कारण अपनी होश रहती नहीं, यह दुःख अधिक है।

'ऊपजे मोह विकल्प थी, समस्त आ संसार।' - श्रीमद् राजचंद्रजी

सब दुःखों का मूल खोजते खोजते यह मोहनीय मिला। मोह छूटता नहीं, पीछे ही पीछे पड़ा है। कर्म बंध के बाद जब वे उदय में आएँ तब जीवको दुःख देते हैं। उदय में आएँ तो भोगने ही पड़ेंगें। अतः बंध समय सावधान रहें। नए कर्म-बंध न हों, इसका ख्याल रखें। दुःख अच्छा न लगता हो, तो दुःख उत्पन्न होने के कारणों को इकट्ठा न करें। पाप के कारण बीमार पड़ते हैं और फिर जीव पाप ज्यादा कराने वाली दवाएँ करते हैं। अतः रोग मिट भी गया हो, तो मिटा न कहा जाएँ। भविष्य की बात का विचार कर के पैर उठाना कि इसका क्या फल आएगा? ज्ञानी की आज्ञा बिना जो भी करे वह सब उल्टा ही हैं।

'पुद्गल अनुभव त्यागथी करवी जसु परतीत हो मित्त।' (देवचंद्र-४)

पुद्गल के अनुभव का त्याग करे तो फिर आत्मा क्या है? वह समझ में आए। **'आत्मा को जानना हो तो आत्मा के परिचयी बनो, पर वस्तु के त्यागी बनो।'** यह अंतिम शिक्षा है, उसका जीव लक्ष्य नहीं रखता। जिसने आत्मा को पहचाना हो, उसका जीव परिचय करे, तो आत्मा की पहचान हो।

सभी को बड़े बनने की इच्छा होती है, परन्तु यह बड़प्पन काम का नहीं है। बड़े तो सिद्ध भगवान हैं। पौद्गलिक बड़प्पन तो जीवको अधोगति में ले जाने वाला है। 'हलके व्है चालें, सो निकसे, डूबे जे शिर भार।'

सिर पर भार हो तो डूब जाएँ। आत्मा में से वृत्ति उठकर पुद्गल में जाएँ, तो फिर आत्मा में रहा न जाएँ। पुद्गल का परिचय हो गया है। उसके बिना चलेगा ही नहीं, ऐसा हो गया है। कृपालुदेव को किसी ने पूछा कि आप का शरीर क्यों सूख गया? उन्हों ने कहा, 'हमारे दो बाग हैं। एक में पानी ज्यादा गया, तो दूसरा बाग सूख गया।'

भगवान के गुणों का विचार करो। उनका भजन स्मरण करो। सत्पुरुष का स्मरण, भक्ति, स्तुति करो। ज्ञानी के पास से जो साधन मिला उस में वृत्ति रखे तो ज्ञानी बन जाएँ।

श्री.रा.प.-११२ (९८) बो.भा.-२ : पृ.-२१

धर्म करने की इच्छा हो तब जीव ऊपर ऊपर से धर्म करता है, पर धर्म तो बहुत गहन है। अतः बहुत सूक्ष्म रीति से वृत्तियों को देखकर धर्म करना है। सत्य तो सत्य ही है। सूक्ष्म दृष्टि बिना, आत्मा की बात समझ नहीं आती। 'महावीर के बोध का पात्र कौन?' 'सदैव सूक्ष्म बोध का अभिलाषी।'

अपने से न होता हो तो कहना कि सत्य तो यही है किन्तु मेरे से नहीं होता। परन्तु यह कभी भी न कहें कि मैं कर रहा हूँ वह ही सत्य है, वही भगवान ने कहा है। भगवान के कहे मार्ग पर चलने की वृत्ति हो परन्तु कर्म के बल के कारण न चल सके, तथापि मुझे चलना तो है भगवान के बताये मार्ग में ही। इस तरह उसी दशा में ही स्थिर बनो। जब जीव अपनी होश में आए तो पता लगता है कि मैं क्या कर रहा हूँ? आत्मा को कर्म बंधवा रहा हूँ। इस तरह पीछे हटो। व्रत में अतिचार लगे तो छेदोपस्थापनीय (प्रतिक्रमण) करते हैं, उसी तरह पीछे हटें। जगत में अपना कोई बिगाड़ता नहीं। अपने कर्म से, अपने भावों से ही बिगड़ता हैं।

श्री.रा.प.-१६६ (९९) बो.भा.-२ : पृ.-३४

ज्ञानी के एक वचन को भी आराधें तो सर्व शास्त्रों का सार प्राप्त कर सकते हैं। कोई व्यक्ति सो रहा है, उसे एक आवाज दें तो जाग जाता

है, किसीको दो आवाज लगाएँ तब जागता है। कोई तीन आवाज से और कोई ज्यादा आवाजों से जागता है, पर इसे जगाना है।

एक वाक्य से जागे तो अनंत आगम पढ़ गया। सत्पुरुष ने एक शब्द दिया हो, उसमें सब आगम आ जाते हैं। 'सहजात्मस्वरूप परमगुरु' इतना कहने में आत्मा को बताने वाला शब्द आया। अतः सभी शास्त्र आ गए। सहजात्मस्वरूपी शुद्ध आत्मा बना, वह परमगुरु है।

सत्पुरुष का एक-एक वचन आत्मा से निकलता है। उसमें आत्मा तक ले जाने का सामर्थ्य है। और आत्मा में तो केवलज्ञान है। केवलज्ञान होने के कारण रूप, ज्ञानी के सब वचन हैं। आगम अर्थात् शास्त्र, आगम अर्थात् आना, भगवान के पास से जो ज्ञान आया वह आगम कहलाया।

मुमुक्षुओं के लिए कल्याणकारी ये पाँच वाक्य हैं। सर्व ज्ञानीपुरुषों की साक्षी से ये लिखे हैं।

मायिकसुख, इन्द्रियसुख, संसारसुख - सब छूटे तब मोक्ष हो। मोक्ष जाने की इच्छा है तो मायिक सुख छोड़ना पड़ेगा। उसकी इच्छाएँ छोड़नी पड़ेगी। अतः आज से ही इच्छाएँ कम करने का अभ्यास करो। मायिक वासना स्वयमेव नहीं छूटती। सहायक की जरूरत है। इसके लिए सर्व प्रथम सद्गुरु की खोज करनी चाहिए। फिर मन-वचन-काया से अर्पणता करना। ममत्व निकाल देना। जितनी शक्ति है वह सब आज्ञा की आराधना में उपयोग में लें और पीछे न हटें तो मायिक वासना जाएँ।

अनंत काल से परिभ्रमण है। इसमें विद्या बहुत बार पढ़ीं, जिन-दीक्षाएँ ली, आचार्य भी बना परंतु सत् न मिला। सत् को पाने के लिए ज्ञानी के कथन को प्रथम सुनना चाहिए, फिर उसकी श्रद्धा करनी चाहिए। हम अपने भाव से ही बंधते हैं, अपने भाव से ही छूटते हैं। अंतरंग क्रिया, सद्गुरु बिना समझी नहीं जा सकती। अतः सद्गुरु की भक्ति, शरण लेनी चाहिए। ज्ञान चाहिए तो ज्ञानी के पास जाना चाहिए। जहाँ मोक्षमार्ग है, वहाँ जाएँ तो मोक्षमार्ग प्राप्त हो। अनादि काल से जीव परिभ्रमण कर रहे हैं, पर आत्मा न मिली।

सत्पुरुष की पहचान होना कठिन है। पहचान बाद यदि एक भी वचन मरते तक पकड़ रखें तो मोक्ष हो जाएँ। सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र यह मोक्षमार्ग है। और यह आत्मा ही है। बाहर खोजने से न मिले। दो अक्षर में मार्ग रहा है। वे दो अक्षर कौन से? प.पू. प्रभुश्रीजीने कहा था 'ज्ञान और ज्ञानी।'

श्री.रा.प.-१९८ (१००) बो.भा.-२ : पृ.-४४

पूज्यश्रीः- सत्पुरुष का योग मिला हो तो योग्यता बढ़ानी चाहिए। जितनी योग्यता हो, उतना ग्रहण कर सके, अतः योग्यता बढ़ानी चाहिए। 'मैं देह हूँ,' ऐसा जब तक रहेगा, तब तक विषय-कषाय लिपटे रहेंगे। मंद कषाय हुए बिना संसारी भाव कम नहीं होते। सत्संग भी सफल नहीं हो सकता। अतः विषय-कषाय का भाव छोड़कर सत्संग करना चाहिए।

मोक्ष की ही ईच्छा वाला मुमुक्षु हो तो सत्संग में अपना दिल खोलता है। सत्संग में अपने स्वयं के दोष दिखते हैं, और दूसरो के गुण दिखते हैं। सत्संग में ज्ञानीपुरुषों के चरित्रों का, वचनों का विचार हो तो सत्संग सफल है। सत्पुरुष सजीवन है। अन्य सब मृत सम हैं। ज्ञानीपुरुष के पास जाएँ तो सब कल्पनाएँ खिसक जाएँ। ज्ञानी बिना अपनी कल्पनाएँ आगे आती हैं। कल्पनाओं में ही घिरे रहते हैं। ज्ञानी का अपने ऊपर अनंत उपकार है। यह भूल जाएँ तो सत्संग भी व्यर्थ है। अभी जो भी सुन रहे हैं, विचार रहे हैं, समझ रहे हैं, वह सब ज्ञानी का ही उपकार है।

प्रभुश्रीजी के बोध में आया था कि साधु बना हो, द्रव्य चारित्र पाल रहा हो, दूसरों को उपदेश देता हो, पर मन में कुछ और हो और ऊपर कुछ और हो। दूसरों को अच्छा दिखे, वह करता हो। साधुत्व नहीं हो और साधुता बताए तो माया शल्य है। ठेर ठेर संप्रदाय हैं, शास्त्र हैं, पर सत् नहीं है।

जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड की बातें करें तो अपने को वे बहुत हितकारी नहीं, पर अपने को क्या करना है? यह सोचें तो ज्यादा हितकारी हैं।

स्वयं को जिससे लाभ हुआ हो वह बात दूसरों को कहने का मन होता है। पर कृपालुदेव प्रभुश्री को लिखते हैं कि हम जब तक गृहस्थावस्था में हैं, तब तक हमें किसी भी तरह से प्रगट न करना। किसी सत्पुरुष को खोजो, यह कह सकते हो, पर यह सत्पुरुष है, यह आप न कहना। अपना पुरुषार्थ करने को अभी बहुत शेष है। विषय-वासना सर्व प्रथम निकालनी है। प्रिय करने जैसे का जीव को ज्ञान नहीं, तो प्रिय करे तो कहाँ से? हम धर्म करते हैं ऐसा मानता है, पर होती है मिथ्या धर्म वासना। यह खोज खोजकर सब दोष दूर करें। पाँच इन्द्रियाँ के विषय शत्रु हैं, उन्हें निकालें। पाँचों इन्द्रियाँ पुद्‌गल को बताने वाली हैं। पुद्‌गल-अनुभव-त्याग से आत्मा की प्रतीति होती है। किसी से प्रतिबंध करने जैसा नहीं। असंग और अप्रतिबद्ध होना है। सत्पुरुष बिना ऐसा कौन कहे? दूसरे तो प्रशंसा करें। मैं कुछ नहीं जानता ऐसा करने को कहते हैं।

प्रभुश्रीजी को कृपालुदेव ने कहा आप के पास मुमुक्षु आए तो पढ़ाना। योग्यता बढ़ाने के लिए ब्रह्मचर्य प्रथम साधन है। असत्संग से छूटना और ब्रह्मचर्य में रहना। संसार में हैं तब तक संग तो होगा ही। संग के दो भेद हैं, एक सत्संग और दूसरा कुसंग। आत्मा की तरफ ले जाएँ वह सत्संग और उस से विपरीत असत्संग। मुख्यतः अपने को जिस सत्पुरुष की श्रद्धा हुई वह छुड़वा दे, वह बड़ा कुसंग है। 'संसार ही अनंत कुसंगरूप है (मो.२४)।' कुटुम्ब के कार्य करने में अगर सत्पुरुष की आज्ञा गौण हो जाती है या सत्संग में बाधक हो, यह भी कुसंग है। कुशास्त्र है, वह भी असत्संग है। बड़ा असत्संग तो क्रोध, मान, माया, लोभ है। वह हृदय में रहता है और विपरीतता कराता है। योग्यता की प्राप्ति में ये सब विघ्न हैं।

श्री.रा.प.-१९९ (१०१) बो.भा.-२ : पृ.-४५

शास्त्र पढ़ने हों तब निवृत्ति और पाँच इन्द्रियों के विषयों की निवृत्ति चाहिए। निवृत्ति की जीव को जरूरत है। वांचन न हो सके तो मुझे अन्य कोई विचार करना नहीं। ज्ञानी ने जो स्मरण करने को कहा है, विचारने

को कहा है वह करुँ, इस तरह निवृत्तिमें बैठ कर विचार करें। उपाधि में रहना पड़ता हो तो मुझे यह छोड़ना है, ऐसा विचार रखें। इस मनुष्यभव में ही मिथ्यात्व में से समकित हो सकता है। चारित्रमोह क्षय हो सकता है। उसमें भी जो उल्टी-सीधी उपाधि में पड़ें, तो कब पार आएँ?

ज्ञानी की शिक्षा अनुसार चलने का लक्ष्य रखता हो, वह शिष्य है। हे जीव ! अनेक भव व्यर्थ गएँ, अब यह मानवभव व्यर्थ न जाएँ, यह लक्ष्य रख। पुनः ऐसा जोग दुर्लभ है। मनुष्यभव, श्रावक कुल, सत्शास्त्र का जोग पुनः पुनः मिलना दुर्लभ है। निवृत्ति में आनंद आए, इसके बिना कुछ अच्छा न लगे तो निवृत्ति के लिए जीव समय निकालता है। निवृत्ति का अभ्यास न करे तो प्रवृत्ति नहीं मिटती। प्रभुश्रीजी कहते कि साधुपणा तो आएगा तब की बात, पर दो तीन महीने सत्संग करेंगें उतना तो काम आएगा। अन्य सब छोड़कर सत्संग को साधें तो इतना तो साधकपना कहा ही जाए न? जीव को निवृत्ति रुचती नहीं। कई कहते हैं कि सारा दिन यह क्या भक्ति करता है?

मिथ्या वासना छोड़ने की प्रथम जरूरत है। यात्रा करने जाएँ, तब मानता न माने, धन आदि की इच्छा न करे। मोक्ष मिले, अतः धर्म करुँ; ऐसा सोच कर धर्म करने वाले तो थोड़े ही होते हैं। साधुता से देवलोक मिलेगा, ऐसी इच्छा से बहुत से धर्म करते हैं। बगला पानी में एक पैर उँचा रखकर खड़ा रहता है, मछली आए कि तुरंत पकड़ लेता है। इस तरह जीव धर्म के नाम पर मिथ्यावासना का सेवन करते हैं।

"मरणना मुख आगळे, अशरण आ सौ लोक,
कां चेती ले ना चतुर ! मूकवी पडशे पोक।"

श्री.रा.प.-२०७ (१०२) बो.भा.-२ : पृ.-४७

बोलते समय सावधानी रखने की जरूरत है। किससे कहें कि तुम लोग क्रिया ठीक नहीं करते, तो यह जीव प्रमादी होने से क्रिया करना ही छोड़ देंगे।

समागम साधु का हो या श्रावक का, वैराग्य की बातं हो तो सब को लाभ होता है। वैराग्य की बात अन्य दर्शन वालों को भी अच्छी लगती है।

प्रश्नः- वैतालीय अध्ययन किस में है?

पूज्यश्रीः- सूत्रकृतांग में दूसरा अध्ययन है। मनुष्यभव दुर्लभ है। पुनः पुनः मिलता नहीं, अतः प्रमाद छोड़कर मोक्षके लिए तुरंत पुरुषार्थ करना चाहिए, क्योंकी आयुष्य अनियत है। शरीर आदि सब असत्य है। ऐसी ऐसी वैराग्यकी बातें इसमें आती हैं।

किसी एक समय, प्रभुश्रीजी गृहस्थ को सत्पुरुष मानते हैं, ऐसी प्रसिद्धि हुई। फिर एक बड़े साधु प्रभुश्रीजी को मिले, तब प्रभुश्रीजी ने कृपालुदेव के पत्र उन्हें दिखाएँ। उन्हें लगा कि ये तो अच्छी बातें हैं। यह सब करने योग्य है। इनको लिखने वाला कोई ज्ञानी है, ऐसा लगा। गौतमस्वामी सर्वज्ञ जैसे कहलाते, पर भगवान मिलने से पूर्व उन्हें मन में ऐसा संदेह रहता कि आत्मा है या नहीं? पुस्तकें पढ़नी अच्छी लगती हैं पर ये पाँच इन्द्रियों के विषयों को छोड़ना बहुत कठिन है; इनसे छूटो और स्मरणमय बन जाओ। मैं कुछ नहीं जानता, यह करना है। अनादि काल से जीव जो कर रहा है, वह स्वच्छंद है। अनादि से पाँच इन्द्रियों के विषयों में प्रवर्तता है, वह सब स्वच्छंद है।

'रोके जीव स्वच्छंद तो, पामे अवश्य मोक्ष।'

जीव जो स्वच्छंद छोड़े तो मोक्ष हो जाएँ। लौकिक बातों में जीव डूब गया है। ये बातें भूलें तो अलौकिक बात में स्वाद आएँ। अलौकिक दृष्टि करने को कहते हैं। एक एक वस्तु में अनंत धर्म हैं, अतः सत्पुरुष खींचातानी नहीं करते।

श्री.रा.प.-२११ (१०३) बो.भा.-२ : पृ.-४९

इस काल में मोक्ष के लिए अपने को क्या करने योग्य है? वह सब कृपालुदेव ने कहा है। महावीर भगवान के काल में चौदह पूर्व रचे गएँ थे। वे इस काल के जीवों को समझाना बहुत मुश्किल है। कृपालुदेव ने छोटे-छोटे पत्रों में, मोक्ष मार्ग लिखा है।

'सत् कुछ भी दूर नहीं।' 'सत्' किसे कहतें हैं? प्रत्येक वस्तु के लिए समय निकालकर विचार करें। सत् का अर्थ है; होना, अस्तित्व अर्थात् हयात। जगत के पदार्थ जो दिखते हैं, वे सब नाशवंत हैं। आत्मा नामका पदार्थ ऐसा है कि वह आत्मत्वरूप से तीनों काल में रहता है। सत् अर्थात् जो सदैव रहे। आत्मा सत् है अपने साथ तीनों काल में रहती है, त्रिकाल रहने वाली वस्तु सत् है। उसे खोजने के लिए सब धर्मों की स्थापना हुई है। आत्मा अविनाशी पदार्थ है। आत्मा, आत्मा से दूर नहीं, परंतु दूर लगता है।

सर्व प्रथम समझना है:- आत्मा है, आत्मा नित्य है, आत्मा कर्त्ता है, आत्मा भोक्ता है, मोक्ष है, मोक्ष का उपाय है। आत्मा है, ऐसा लगे फिर इस की बंध अवस्था छूट कर मोक्षरूप अवस्था कैसे हो? उसकी तड़प जागे संसार में जहाँ देखो, वहीं दुःख है। सम्यक्दर्शन नामक गुण पलट कर मिथ्यात्वरूप हो गया है। वह पलटे तो सम्यक्दर्शन हो। ज्ञानी कहते हैं कि सत् दूर नहीं है, परन्तु मोह के कारण आत्मा क्या है? कैसा है, इसका पता नहीं लगता। वस्तु यह है, ऐसा पहचान नहीं होता, इसका कारण मोह है। यह जीव स्वयं अपनी ही कल्पना से बंधा हुआ है। सत् की खोज करनी हो तो सत्पुरुष की पहचान करें। आत्मा को न मानने से, आत्मा का नाश नहीं होता। वह तो है ही है। सत् तो सत् ही है। तीनों काल में रहने वाला पदार्थ है। वह किसी भी काल में नाश नहीं होता। सत् है, वह सत् ही है, सरल है, सुगम है। परन्तु दूर लगने का कारण अपना मोह है। जीव का मोह टले तो उसे अपने स्वरूप की प्रतीति हो, दूसरी वस्तु तो कोई दे तभी मिलती है, परन्तु यह तो अपने पास ही है। सत् की पहचान करनी हो तो चारों गति में हो सकती है। नारकी को भी सम्यक्दर्शन होता है। देवलोक, तिर्यंच और मनुष्य गति में भी हो सकता है। भ्रान्ति सत् से विपरीत है, हो आत्मा और माने देह, वह भ्रान्ति है, विपरीतता है, मिथ्यात्व है। सत् है तो सही, पर आवरण में है भ्रान्तिरूप आवरण है। वह दिखें ऐसा नहीं है, कल्पना है। जो वस्तु सच्ची हो, वह सत् कहलाती है। एक सत् है और एक

कल्पना है, उन दोनों का मेल नहीं होता। भ्रान्ति है वह कल्पना है। विपरीत कल्पना ही भ्रान्ति है, आत्मा अरूपी वस्तु है। भ्रान्ति के जितने भेद हो, वे सब भ्रान्तिरूप ही हैं। भ्रान्तिरूप आवरण अंधकार जैसा है, ज्ञान आए तो यह जाए। अज्ञान दशा में जीव कल्पना करता रहता है, कल्पना में ही सारा मानवभव गँवा देता है। अनंत बार मनुष्यभव मिलने पर भी आत्म सार्थक न हुआ। इसका कारण कल्पना है वह कोई सत् नहीं। कल्पना और सत् परस्पर विरोधी हैं, दोनों का मेल नहीं हो सकता। अज्ञान दशा में जितना करे वह सब उल्टा ही है। इससे छूटने का मार्ग भी है। सत् भ्रांति नहीं है, भ्रांति सत् नहीं है। इस भव में मुझे सम्यक्दर्शन करना ही है, ऐसी जिसकी दृढ़ मति हो गई है, उसे क्या करना वह अब कहते हैं। जीव समझा न हो तथापि मैं समझ गया, मैं जानता हूँ, ऐसा इसके मन में अहंभाव भर गया है। यह कैसे निकले? यह स्वयं से निकल नहीं सकता। मुझे पता नहीं, पर ज्ञानी जानते हैं, ऐसा यदि माने तो इतना जीवन में सत्य आया कहलाएँ। मैं कुछ नहीं जानता, ऐसा दृढ़ निश्चय करना। पुनः न छूटे, ऐसा दृढ़ निश्चय करें। अहंभाव ऐसा है कि दबाया हो तो भी फिर से फूट निकले, अपने से वह नहीं जाता, अतः मैं कुछ नहीं जानता। इस तरह ज्ञानी की शरण में जाएँ। क्योंकि जिसने पा लिया है वही दूसरों को दे सकता है। **ज्ञानी के पास जाने से पूर्व इतना जरुर दृढ़ करें कि मैं कुछ नहीं जानता। "जाण आगळ अजाण थईए, तत्त्व लईए ताणी; आगलो थाय आग, तो आपणे थईए पाणी।"** इतनी गरज जीव को हो तो मार्ग मिल जाए। पर अनंतानुबंधी कषाय, जीव का जहाँ से कल्याण होता हो वहाँ से आगे धकेल देता है। मिथ्यात्व उल्टी समझ कराता है, यह जीवके अंदर हो और ज्ञानी के पास जाएँ तो ज्ञानीपुरुष यदि कुछ दोष बताएँ तो कहे कि यह तो मेरे दोष देखता है। इस तरह द्वेष भाव हो जाएँ, वह अनंतानुबंधी क्रोध है। ज्ञानी जानते हैं और मैं कुछ नहीं जानता, जीव ऐसा माननेके वदले "मैं जानता हूँ", ऐसा मानें तो अनंतानुबंधी मान है। ज्ञानीपुरुष के पास जाएँ तो ऊपर ऊपर से अच्छा दिखाएँ और मन में यह

रखें कि ज्ञानी को ठग कर, मेरा काम करा कर जाता रहूँ, तो यह अनंतानुबंधी माया है। लोगों से प्रशंसा करवाए, ज्ञानी से संसार की वस्तु की इच्छा रक्खें तो अनंतानुबंधी लोभ है। जीव वस्तुतः जानता नहीं पर 'मैं जानता हूँ' यह उसे रहा करता है। मोक्ष को यह समझा नहीं, समझे तो मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करें। जीवको रूपी पदार्थ की महत्ता है। मोह का यह सब खेल है।

'जाण्युं तो तेनुं खरुं, जे मोहे नवि लेपाय, सुख दुःख आव्ये जीवने, हर्षशोक नवि थाय।' जब तक मोह या हर्षशोक है, तब तक सत्य रीति से नहीं जाना। मैं कुछ नहीं जानता, यह दृढ़ निश्चय करें, बदल जाय ऐसा नहीं करें, तो मोक्ष सरल है, सुगम है। पर मैं कुछ नहीं जानता, यह जीवनमें लाना कठिन में कठिन है। यही जीव का कर्तव्य है।

प्रभु वीर ने जो उपदेश दिया, वह बारह अंगों में संग्रह करने में आया। उन सब का सार है कि मैं कुछ नहीं जानता, यह दृढ़ करके ज्ञानी की शरण में जाएँ तो जरूर मार्ग की प्राप्ति हो। आत्मज्ञान पाकर के ज्ञानी ने यह वचन कहा है। प्रभुश्रीजी चश्मा लेकर कहते थे, 'यह आत्मा!' सत् तो हर जगह है, पर जीवको दृष्टि चाहीए न? कठिन से कठिन पुरुषार्थ यह है कि 'मैं कुछ नहीं जानता'। मैं जानता हूँ, मैं समजता हूँ, यों मानता है, पर मैं कुछ नहीं जानता, ऐसा बनना दुर्लभ है। सरल जीवों का काम हो जाएगा, पण्डितों को अटकना पड़ेगा। हकीकत में जीव नहीं जानता, अगर जानता था तो ज्ञानीको उससे कुछ नहीं छुड़वाना है। मैं नहीं जानता यह सूत्र जीव के जीवन में आयें तो वह सत्य आया कहलाएँ। पत्र तो ऐसा सरल दिखता है कि हम समज गएँ, पर कृपालुदेव कहते हैं कि आप नहीं समजे, इसे समजने के लिए बहुत पुरुषार्थ की जरूरत है। जीव अनादि से भ्रान्ति में पड़ा है, उस भ्रान्ति को टालने के लिए ज्ञानी की शरण में जा। इन्द्रियाँ और मन रोके बिना छुटकारा नहीं, इन्हें रोके बिना आत्मा तरफ दृष्टि ही नहीं जा सकती। ज्ञानी मिले, ज्ञानी का बोध मिले, फिर श्रद्धा होने पर इसकी दृष्टि बदलती है।

सदा नम्र, नम्र और नम्र रहें, अहंकार न करें। अहंकार न करने से क्या गुण चले जाएँगें? "मैं कुछ नहीं जानता" यह सरल रास्ता है। अभिमान से कोई मोक्ष में नहीं गया, इसका विचार करें तो जागृति आएँ। मात्र एक ज्ञानी की शरण में जा तो जरुर मार्ग मिलेगा। **"मैं कुछ नहीं जानता" ऐसा जब होगा तब सत्पुरुषार्थ स्फुरायमान होगा।** तब तक सब कल्पना हैं।

श्री.रा.प.-२१२ (१०४) बो.भा.-२ : पृ.-५१

अज्ञान और अविरति कैसे टलें? ऐसा विचार बारम्बार रहे तो दोष टलते हैं। जगत की वासना में पड़े रहना है और लोगों में भक्त कहलवाना है। वासना छोड़ने की रुचि नहीं। इतने इतने वर्ष तक सत्संग करने पर भी दोष क्यों नहीं जाते? ऐसा जीव कह तो दे पर दोष निकाले नहीं। 'लोक मूके पोक' मुझे तो ज्ञानी का कहा हुआ ही करना है, ऐसा दृढ़ करें। जीव लौकिक भाव में डूब रहा है। जब तक ममत्व भाव रहेगा तब तक जगत इसे खींचता रहेगा। ज्ञानी के वचन का परिणमन होवें इस पर सब आधार है। कड़वी गोली उतारनी पड़ेगी। ज्ञानी की आज्ञा में एकतान होना ही पड़ेगा इसके अलावा दूसरा कोई मार्ग नहीं है। अन्य सब छोड़ना पड़ेगा। यह मार्ग जीव को समझ में नहीं आया। अपनी इच्छा से वापिस मुड़ेगा तब कल्याण होगा।

वैजनाथ ने कृपालदेव के पूर्वभव की बात बताई कि वे पूर्वकाल में उत्तर दिशा में विचरे थे। यह बात स्वीकार करने के साथ ही कृपालुदेवने कहा कि वैजनाथ को आत्म-साक्षात्कार न था। जिसे केवली का आश्रय है उसे चौथे गुणठाणे से केवली की श्रद्धा होती है। आश्रय मिले तो सब सम्यक् है। तीर्थंकर के, सत्पुरुष के वचन समझना बहुत दुर्लभ है। मतिमान बहुत हो वह भी थक जाए, पर सद्गुरु का अवलंबन मिला हो तो सुलभ हो जाए। आत्मा को पुद्गल से कुछ लेना-देना नहीं। आत्मा कुछ करती नहीं, आत्मा सिद्ध समान है। 'कर विचार तो पाम'। विचार करते आगे पहूँचा हो, तो संशय भ्रान्ति टले। आत्मा होगा या नहीं, ऐसी शंका भी इसे न रहे।

सत्पुरुष के प्रति जैसा प्रेम हो वैसा प्रेम अन्य किसी से नहीं हो, ऐसा हो तब मार्ग निकट होता है। माया विघ्नकारी है, पर जीव यदि चाहे कि मुझे यह दशा लानी ही है तो ला सकता है। प्रभुश्रीजी कहते हैं कि कृपालुदेव ने हमें विरह में रखकर कल्याण किया है। भाव चाहिए। अन्यथा सामान्य जैसा हो जाए। सब आधार भाव पर है। कृपालुदेव ने कहा कि असंग बनो। किसी सत्पुरुष को खोज कर उसके प्रति प्रेम करो। कृपालुदेव निःस्पृह पुरुष थे। उनको संसारी जैसा गिना, तब से मार्ग भूला। कृपालुदेव की दशा को भजे तो कल्याण हो जाए। ज्ञानी को भजूं तो रिद्धि-सिद्धि मिलें, यह लोभ है, पाप का मूल है। इस लोभ से ज्ञानी की पहचान नहीं होती। ज्ञानी को पहचानने में ऐसे बहुत विघ्न आते हैं। सत्पुरुष तो सब वस्तुओं से भिन्न है। सत्पुरुष की सच्ची पहचान सरल नहीं है। यह सरल होता तो सम्यग्दर्शन भी सरल होता और मोक्ष भी सुलभ होता। चमत्कार से सत्पुरुष को माने तो यह कोई सच्ची पहचान नहीं। 'मुमुक्षु के नेत्र महात्मा को पहचान लेते हैं'। (श्री.रा.प-२५४) सब छोड़ने की इच्छा हो तो सत्पुरुष की पहचान हो सकती है। कृपालुदेव को हमने पहचाना तो उनके वचनों से ही।

कृपालुदेव ने प्रभुश्रीजी को लिखा कि किसी को कहना हो तो यों कहना कि किसी सत्पुरुष को खोजो, पर हमारा नाम मत लेना। क्योंकि उदय गृहस्थ का है। योग्यता हो तो ज्ञानी की पहचान हो।

श्री.रा.प.-२४९ (१०५) बो.भा.-२ : पृ.-५८

इस काल में जहाँ वृत्ति स्थिर रखनी चाहिए, वहाँ जीव रख नहीं सकता। दिनों दिन सत्-साधन और पुण्य आदि कम होते जा रहे हैं, अतः इस काल को कलियुग कहा है। सत्पुरुष का योग हो तो सच्ची वस्तु समझ में आएँ। जीव को धर्म में उल्लास बढ़े तो आगे बढ़ सके। मुमुक्षुता की कमी है। प्रत्येक वस्तु को पोषण की जरूरत है। कुछ सत्संग हो तो जीव हरा-भरा रहे, अन्यथा सूख जाता है। जैसा संग वैसा रंग लगता है। वैराग्य वाला संग हो तो वैराग्य होता है। जीव निमित्ताधीन है तब तक अच्छे

निमित्त रखना। सत्संग में उत्तम वस्तु मिलती है और अपने दोष दिखते हैं। सत्संग का योग हो तो जीव हरा रहता है। सत्संग, सर्व साधनों में उत्तम साधन है। जिसे संसार से छूटना है उनका संग करना यह सत्संग है। कृपालुदेव सच्चे है, ऐसी श्रद्धा रखो। बने तो ऊँची दशा वालों का सत्संग करना, वह न हो तो समान दशा वाले का सत्संग करना, पर सत्संग करना। सत्संग आत्मा को सत् वस्तु की प्रेरणा देता है। साधु को भी ऐसा नियम है की एक साथ दो साधु को विचरना। आसपास असत्संग का घेरा हो और सत्पुरुष का योग न हो, तो जीव डूब जाता है, मुमुक्षुता भी नहीं रहती। जैसे कि अनार्य कुल में रहा हुआ जीव स्वयं को अच्छा मानता है, वैसे जीव मिथ्यात्व में है और उसीको अच्छा मानता है। काल ऐसा है कि अच्छी वस्तु में रुचि नहीं होती।

परम सत्संग की बलिहारी है। एक महात्मा का समागम होते ही जीव तुरन्त बदल जाता और साधु हो जाता है। परम सत्संग हो तो ज्यादा बल नहीं करना पड़ता। भाव इतना अच्छा रहता है कि सहज काम हो जाता है। कल्याण करने की भावना हो तो सत्संग से विकास होता है। वह भावना न हो तो भी सत्संग से हो जाती है, कषाय की मंदता हो जाती है। जीव तीर्थंकर के समवसरण में आते ही वैर सव भूल जाते हैं। दीपक को पवन चंचल बनाती है उसी तरह आत्मा को कषाय चंचल बनाती हैं। कषाय मंद हो तो परिणाम शांत होते हैं। प्रभुश्रीजी के पास हम जाते तव होता कि यह पूछूँ, वह पूछूँ? पर बाद में सब भूल जाते और समाधान हो जाता था बिना पूछे। महापुरुषों का समागम हो और वे बोलें या न बोलें तो भी समागम बहुत लाभकारी है। अब मुझे क्या करना चाहिए? यह बात महापुरुष के योग से समझ आती है। थोड़ा भी समागम बहुत लाभकारी है। सत्पुरुष का समागम न हो पर वृत्ति उसी में रहे तो लाभ होता है। उसमें भी सत्पुरुष का स्वरूप समझना बहुत कठिन है। बुद्धि में आने जैसी बात नहीं। आत्मा अरूपी पदार्थ है, उसका ख्याल आना बहुत मुश्किल है। जो करना है, वह सत्पुरुषों ने समझाया है। अहंभाव - ममत्व भाव छोड़ना है।

'सत्संग जैसा कल्याण का बलवान कारण कोई नहीं।' (श्री.रा.प-३७५) प्रत्यक्ष योग से बहुत लाभ होता है। निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों हों, तभी सम्यक्‌दर्शन होता है।

श्री.रा.प.-२५४ (१०६) बो.भा.-२ : पृ.-५९

प्रथम निःशंक होना है। जीवको भय का कारण शंका है। सब से बड़ा भय जन्म-मरण का है। सम्यक्‌दर्शन से वह भय चला जाता है। संसार भय से भरा हुआ है। मात्र वैराग्य ही भयरहित है। वैराग्य उत्पन्न होने का कारण सत्पुरुष है। नाशवंत वस्तु भयवाली है। जीव को भय हो, तो परिग्रह इकट्ठा करता है। जैसे सफर में एक गाँव से दूसरे गाँव में जाते हुए, मुझे किस किस वस्तु के बिना मुश्किल होगी, यह भय लगे तो उन वस्तुओं को साथ ले लेते हैं। आत्मा का सुख अचिन्त्य चिन्तामणि है, इसका पता नहीं। सुखी होने का कारण निःशंकता है।

जीव को अनेक प्रकार के कर्म हैं। अतः उसका स्वभाव अनेक प्रकार का होता है। जीव को दुःखी होने का कारण, कर्म हैं। जैसे कर्म उदय में आते हैं, जीव वैसा बन जाता है। इसी तरह दोष के भी अनन्त प्रकार दिखते हैं। उनमें से सब से बड़ा दोष यह है कि जीव को छूटने की भावना नहीं होती। मुमुक्षुता आना बहुत मुश्किल है। "दया, शांति, समता, क्षमा, सत्य, त्याग, वैराग्य" ये गुण मेरे में हैं या नहीं, यह खोजना। यदि ये गुण न हों तो जानना, मुमुक्षुता नहीं है। मुमुक्षुता आए तो सब दोष जाने लगते हैं। जीव को संसार का स्वरूप समझ में नहीं आया, उसे अपने स्वरूप का पता नहीं है। अतः मुमुक्षुता उत्पन्न नहीं होती।

मुमुक्षुता उत्पन्न न होने का कारण आग्रह है। मनुष्य में विचार करने की शक्ति है, अतः वह जान सकता है कि मुझे जाना तो है ही तो फिर धर्म करके सुखी बनूँ। ऐसा सोच के अपने आप आचरण करे और कहे कि मैं धर्म करता हूँ, पर वह धर्म नहीं कहा जाता। ज्ञानीपुरुष के बताए मार्ग पर चले तो धर्म कहा जाएँ। अपनी मान्यता से जो करे तो वह मिथ्या है। मुमुक्षुता आए तो मोहासक्ति छूट जाए, समझ बिना यह सब नहीं होता,

संसार के सब कारणों का त्याग करे तब होता है। त्याग का अभिमान नहीं करना, बकरा निकालते ऊँट अन्दर नहीं आना चाहिए। पूर्व प्रारब्धानुसार प्रवर्तन करते हुए खुश नहीं होना चाहिए। एक मोक्ष का लक्ष्य रख कर मोह के काम करने पड़े तो उसमें बेचैनी महसूस हो। क्योंकि सच्चे को सच्चा जाना है। तीव्र मुमुक्षुता अर्थात् क्षण-क्षण अनन्य प्रेम से मोक्ष के मार्ग में प्रवृत्ति करना। तीव्र मुमुक्षुता वाले जीव विरले होते हैं। अपने दोष देखें तो मुमुक्षुता आती है। अपने दोष निकालने के लिए कटाक्षदृष्टि से देखें, यह मुमुक्षुता का कारण है। जीव अपनी सार संभाल लेना भूल गया है। दोष देख कर पश्चात्ताप करे तो मुमुक्षुता आती है।

श्री.रा.प.-२८२ (१०७) बो.भा.-२ : पृ.-७०

सत्संग के योग से जीव को शान्ति मिलती है। आत्मस्वरूप जानने के बाद उस में रस आता है। तन्मयता से भक्तिरस गाए तो शान्ति मिलती है। इस जगत का स्वरूप विचारे तो वैराग्य हो सकता है। जगत में कहीं भी सुख नहीं। अखण्डता से हरिरस गाए बिना शान्ति नहीं आती। सम्यक्दर्शन होने के बाद मोक्ष की रुचि होती है। फिर अन्य कुछ अच्छा नहीं लगता।

व्यासजी को नारदऋषि मिले तब व्यासजी ने कहा कि मैं ने बहुत शास्त्र लिखे हैं, पर शांति नहीं हुई। नारदऋषि ने कहा कि भक्ति में लीन हो जाओ। तब से व्यासजी ने भक्ति के बारे में लिखना शुरु किया।

प्रश्नः- भक्ति जागृत क्यों नहीं होती?

पूज्यश्रीः- जीव को दूसरी भक्ति संसार की है। सुबह से शाम तक देह और कुटुम्ब की भक्ति करना जीव को अच्छा लगता है। जीव को संसार में अभी प्रेम है। संसार जहर जैसा लगे तब भक्ति जागती है। फिर संसार के काम अच्छे नहीं लगते। भक्ति न होने का दुःख है। भक्ति हो तो मुक्ति सहजता से आ जाए।

'पर प्रेम प्रवाह बढ़े प्रभुसे, सब आगम भेद सुउर बसें;
वह केवल को बीज ज्ञानी कहे, निज को अनुभव बतलाई दिए।'

कितना परिवर्तन लाना है? जीव शुभाशुभ भावों में है, शुद्धभाव नहीं है। अन्य भाव न भूलें तब तक शुद्धभाव कैसे आएँ? जगत के प्रति वैराग्य विशेष रखना। आत्मा को क्या हितकारी है? ऐसा विवेक आए तब भक्ति होती है। इस काल में भक्ति की बात भी सुनने को नहीं मिलती, अतः भक्ति होती नहीं। जीव ने प्रेम को अन्यत्र बाँट दिया है। काल बदल गया है। पहले सत्युग में तो महापुरुषों के योग आदि की अनुकूलता सहजता से मिलती थी। परन्तु इस काल में तो भगवान का नाम भी सुनने में नहीं आता। जीव धर्म के स्थानों में भी दूसरी इच्छाएँ रखता है।

जहाँ देखो वहाँ कपट, सत्य नहीं। ऐसे जीवों को ज्ञानी का योग भी कहाँ से हो? हीन पुण्य वाले जीव हैं। चार प्रकार के पुरुषार्थ में से काम और अर्थ में से वापिस हटना है। इन की इच्छा नहीं रखना। मोक्ष जाना हो, तो इनकी इच्छा त्याग करना। कृपालुदेव कहते हैं कि अज्ञानी की तरह रहो, किसी को पता न चले।

श्री.रा.प.-२९९ (१०८) बो.भा.-२ : पृ.-७१

सब का सार कहा। सब कुछ करके जगत की विस्मृति करना। मन ऐसा है कि कुछ न हो तथापि विकल्प कर कर के कर्म बाँधता है। दो काम साथ में नहीं होते। जगत को भूलने का लक्ष्य रखना। जिस की महत्ता लगी हो, उसी में चित्त टिकता है। ज्ञानियों ने जो कहा है उसमें चित्त रखोगे तो जीवन सफल होगा। जो आत्मा की महत्ता लगी हो, तो चित्त उसमें टिके, अन्यथा खाने-पीने में चित्त जाता है। यह तो मैंने पढ़ रक्खा है, यह मन्त्र तो मुझे आता है, ऐसा यदि हो तो भी महत्ता नहीं लगती। सब शास्त्रों का सार मंत्र है; ऐसी समझ हो तो इसका विचार आएँ। जगत को भूल कर महापुरुष के चरणों में चित्त रखना है, इसकी महत्ता रहे तो चित्त टिके। कर्म के कारण अन्य-अन्य मन में आता है, पर मुझे तो जगत को भूलना है और सत्पुरुष में चित्त रखना है। इतना करे तो इसका बल बढ़ता है, जिस से कर्मों को जीत जाता है। जो करे, उसमें संसार का लक्ष्य रखे और फिर तप-जप करे तो यह संसार का कारण है। जो पुरुषार्थ न करे तो

अनादि की आदत में खिंचता जाए। छूटने के लक्ष्य से करे तो मन टिकता है। सामायिक करने बैठे हो और मन अन्यत्र घूमता रहता है। चौबीस घण्टे जो भी करते हो वह ही सामायिक के समय भी हाजिर रहता है। दूसरा कहाँ से आये? अब कोई भी साधन करो पर सत्पुरुष को भूलना नहीं। उनके उपकार, करुणा आदि याद करके साधन करें। उपदेश छाया(५) में हैं कि **'स्वभाव में रहना, विभाव से छूटना।' यह न होता हो तो क्या करना? सत्पुरुष में चित्त रखना, और जगत को भूल जाना।**

श्री.रा.प.-३०१ (१०९) बो.भा.-२ : पृ.-७२

ज्ञानी को यह दृढ़ कराना है कि संसार बंधनरूप है। उस से बचने के लिए इतना करना है। आत्मा को पहले देखो। देखने वाला आत्मा है। आत्मा है वह प्रथम पद है, वह भूल न जाना। सुख दुःख आएँ तो योग्य ही मानना, ऐसा हो तो बुरा, ऐसा न हो तो अच्छा, ऐसे मत करना। पूर्व में जो किया था वही आया है। आत्म विस्मरण नहीं होना चाहिए। जगत आत्मा रूप माना जाएँ, तो आत्मा का विस्मरण नहीं होता। पहले आत्मा, है वह हो तभी सब पता लगता है।

'घट-पट आदि जाण तुं, तेथी तेने मान;
जाणनार ते मान नहि, कहिए केवुं ज्ञान?'॥ ५५ आ.सि.

आत्मा न हो तो मुर्दा है। ज्ञायक-ज्ञाता-देखनेवाला आत्मा प्रथम है। आत्मा-ज्ञायक है तो ज्ञेय का पता लगता है। संसार में जीवों को दोष पहले दिखते हैं। किसी के भी दोष न दिखें, तभी संसार में रहना, अन्यथा जंगल में चले जाना। अपने में कोई गुण हो तो जीव उसे गाता फिरता है। मानो गुण प्रगट हुआ ही नहीं, इस तरह संसार में रहे। अपने दोष देखे तो मुमुक्षु बने। इन दोषों से मुक्त होनेका प्रयत्न करें।

श्री.रा.प.-३३० (११०) बो.भा.-२ : पृ.-७८

बहुत समय के बोध के बाद जीव को सम्यक्‌दर्शन प्रगट होता है। सम्यक्‌दर्शन, केवलज्ञान का बीज है। यह निश्चय सम्यक्‌त्व है, उसमें

आत्मा का अनुभव होता है। क्षायिक सम्यक्त्व तो अनुभवरूप, लक्ष्यरूप या प्रतीतिरूप से सदा रहता है। दूसरे सम्यक्त्व में तो परिवर्तन हो जाएँ और चले भी जाएँ। मिथ्यात्व के उदय में सम्यक्त्व कड़वे जहर जैसा लगता है। मिथ्यात्व के उदयमें भ्रान्ति होती है। बहुत काल के बोध के बाद मिथ्या श्रद्धा बदल कर आत्मा की सम्यक् श्रद्धा प्रगट होती है। वह निश्चय सम्यक्त्व है। दर्शनपरिषह धीरज से वेदें तो सम्यक्दर्शन होता है। दर्शनपरिषह में सम्यक्त्व कब होगा? ऐसी जीव को जल्दी रहती है। जीव को जब ज्ञानी का स्वरूप समझ आए, तब लगता है कि मेरी मान्यता गलत है और ज्ञानी की मान्यता सच्ची है। बोध बीज और मूल ज्ञान का बारंबार विचार करना चाहिए।

ज्ञानी की आज्ञा का पालन करना। सत्संग विशेष करना, इस से जीव की बुद्धि बदलती है। मार्ग उल्टा ले तो न हो। स्वच्छंद से समकित नहीं होता। 'रोके जीव स्वच्छंद तो, पामे अवश्य मोक्ष।' इतना हो तो कल्याण हो जाएँ। भगवान ने सम्यक्दर्शन किसे कहा? यह विचार करना चाहिए। आत्मा का कल्याण हो, वैसा करना है। ज्ञानी जानते हैं, ऐसा माने तो कल्याण होगा। जीव ने बहुत सुना है पर सत् मिला नहीं। ज्ञानी का बोध सुनना और श्रद्धा करना। आत्मा नित्य है, जगत अनित्य है। आत्मा तीनों काल में है। ऐसी भावना करना। चाहे कितनी भी अच्छी वस्तु क्यों न हो, वह जो नाशवन्त है तो सत् नहीं। बारंबार ज्ञानी का बोध सुनने की अपेक्षा एक वचन की पकड़ भी कल्याणकारी है। ज्ञानी कहते हैं कि आत्मा नित्य है, परन्तु यह जीव अन्यत्र अनित्य में सुख ढूँढ़ रहा है।

वैराग्य हो तो ज्ञानी के वचन चिपकते हैं। आकुलता-व्याकुलता होती है, उसे मिटाने के लिए पुरुषार्थ करें तो वह मिटे। दर्शनपरिषह सुखकारी है। धीरज से वेदें तो सम्यक्दर्शन हो। सम्यक्दर्शन के लिए जीव को जल्दी होती हो, व्याकुलता होती हो तो वह दर्शन परिषह है। चाहे कितनी भी मुश्किल हो तथापि ज्ञानी की आज्ञा को तोड़ना नहीं। वैराग्य रखना। जगत में से कुछ भी न चाहिए। ज्ञानी की विशेष भक्ति, सत्शास्त्र

का अभ्यास और सत्संग करने योग्य है। अन्य कोई कल्पना न करना, उस से कल्याण नहीं होगा।

"शांत सुधारस" में से बारह भावना का चिंतन करना। छ:पद में सम्यक्‌दर्शन रहा हुआ है। श्रीज्ञानीपुरुषों ने सम्यक्‌दर्शन के मुख्य निवास भूत ऐसे छ:पद यहाँ संक्षेप से बताएँ हैं।

श्री.रा.प.-३३१ (१११) बो.भा.-२ : पृ.-७९

विनयभाव रखना। संसार के स्वार्थ की इच्छा न रखना। 'त्याग विराग न चित्तमां, थाय न तेने ज्ञान'। सम्यक्‌दर्शन प्राप्त करना हो तो अन्य भाव छोड़ने पड़ेंगें। संसार में मुझे पैसा मिले तो मैं सुखी होऊँ, भ्रान्ति में सुख की कल्पना की है। जब तक संसार प्रिय लगता हो, तब तक मोक्ष की महत्ता नहीं लगती। सत्संग सर्वोपरि वस्तु है, माहात्म्य लगा नहीं। धन, कुटुम्बादि पर जितना प्रेम आता है उतना प्रेम सत्संग पर, आत्मा पर आएँ तो काम हो जाएँ। तब तक अप्रमत्त भाव से पुरुषार्थ करना है। जीव के पास प्रेम रूपी मूड़ी है, वह संसार में बाँट देता है। वह यदि मोक्ष में जोड़े तो कल्याण हो जाए। 'पर प्रेम प्रवाह बढ़े प्रभुसे'। जगत में मेरा कोई नहीं हैं।

श्री.रा.प.-३८३ (११२) बो.भा.-२ : पृ.-९२

क्लेशित भाव होने का कारण पर वस्तु को अपनी मानना है। पर वस्तु को मेरी माने तो क्लेश हो। और मेरी न माने तो क्लेश न हो; तो यह ही समाधि है। आत्मा तो परमानंद सुख-स्वरूप है, उसी में रहे तो क्लेश नहीं, क्योंकि क्लेश का कारण कुछ रहा नहीं। कर्म पर हैं; संसार क्लेशरूप और आत्मा परमानंदरूप है ऐसा जिसे प्रतीत हुआ उसे भेदज्ञान है। प्रारब्ध तो ज्ञानी को भी भुगतना पड़ता है। क्षायिक सम्यक्‌दृष्टि को यह संसार त्रिकाल में असार ही दिखता है। ज्ञानीपुरुष हो सके उतने कर्म तो ज्ञान-ध्यान से क्षय करते हैं, किन्तु जो कर्म रहते हैं, वे तो भुगतने ही पड़ते हैं।

श्री.रा.प.-३८४ (११३) बो.भा.-२ : पृ.-९२

इस काल को कलियुग कहने का कारण क्या? इस काल में मुश्किल से धर्म प्राप्त होता है। धर्म प्राप्त न होने में पंचेन्द्रियों के विषयों में

आसक्ति कारणरूप है। उसके कारण पंचम काल कहा जाता है। पाँचों इन्द्रियों के विषय बिना इस काल के जीवों को अन्य कुछ भी नहीं रुचता; धर्म के साधन अच्छे नहीं लगते। जो अन्तरदृष्टि हो तो फिर बाहर की वस्तु इसे अच्छी न लगे। रूप आदि पाँच इन्द्रियों के विषयों का अभ्यास बहुत काल से है। अतः अतीन्द्रिय सुख की श्रद्धा नहीं होती। सिद्ध को क्या सुख होगा? उसका ख्याल भी नहीं आता। संसारी वस्तु मिलते ही उसमें लीन हो जाता है, अपना सुख भूल जाता है, इससे व्याकुलता है और न मिले उस की भी व्याकुलता है। साता ही अंतरदाह है और असाता ही बाह्यांतर दाह है। अतः (साता-असाता) दोनों में जीव व्याकुल रहता है। जीव के परिणाम स्थिर नहीं रहते। राग-द्वेष होते रहते हैं। वस्तुतः यही अंतरदाह है। ज्यों ज्यों जीव की शारीरिक शक्ति कम होती है, भोग की सामग्री कम होती है, त्यों त्यों जीव की व्याकुलता बढ़ती है। आसक्ति अधिक होती है। इस कलिकाल में पाँचों इन्द्रियों के विषयों का सुख अल्प मात्र है। आयुष्य अल्प है। पहले तो इन्द्रियों के सुख के साधन बहुत थे तथापि व्याकुलता इतनी ज्यादा न थी। देखत भूलीमें सारा संसार पड़ा है। इस काल में सम्यक् समझवाले जीव कम हैं। पाँच इन्द्रियों के विषयों की व्याकुलता वाले जीव बहुत हैं। कर्म बांधने का कारण मन है। पशुओं का अपने जैसा विकास नहीं, अतः उन्हें कर्म बंध कम होता है।

अब दूसरे प्रकार के जीव जिन्हें परमार्थ में विह्वलता नहीं है। समजु हैं, उन्हें चित्त में विक्षेप नहीं होता। आत्मा का हित हो, इस तरह रहते हैं। अन्य का संग होनेसे यह भूल नहीं जाते। उन्हें अन्य में प्रीति नहीं होती। जगत सारा चाहे सुवर्णमय बन जाएँ तो भी उन्हें तृण लगता है। ऐसा पुरुष राम सदृश वैराग्यवाला है।

ऐसे जीव अधिक हों तो कलिकाल न कहा जाए। अंश में भी ऐसे गुणधारक जीव थोड़े भी दिखते नहीं। अतः खेद और आश्चर्य होता है कि यह काल कैसा आया है? अच्छे व्यक्ति मिलते ही नहीं।

परमार्थप्राप्ति में चित्त रहा करता हो, तो विह्वलता नहीं होती। विह्वलता से परवशता आती है। संग की असर जिसे नहीं होती वह राम जैसा व्यक्ति है।

'प्रीति अनंती पर थकी जे तोड़े, ते जोड़े एह परम पुरुषथी रागता'

परमार्थ काम को हाथ में लेनेवाले की वृत्ति अन्यत्र नहीं जाती। सारा संसार दुःख का समुद्र है। कहीं भी सुख नहीं। संसार में कोई सुखी नहीं है। देवलोक में या संसार के किसी भी कोने में सुख नहीं। आत्मा का विश्वास आए तो अन्य कारणों से सुख महसूस नहीं होता। वहाँ से मन हट ही जाता है। इस तरह के वैराग्यवान, परमार्थ के चाहक इस काल में नहीं दिखते। संसार छोड़कर मोक्ष में जाने की इच्छा वाले जीव कम हैं।

कृपालुदेव को उपाधि इतनी ज्यादा रहती थी कि निद्रा सिवा बाकी का अवकाश एक घण्टे के सिवा उपाधि में बिताना पड़ता था। ज्ञानी किसी भी अवस्था में रहे, सुख में, दुःख में या उपाधि में रहें, पर समभाव नहीं भूलते।

कई जीव मोक्ष में जाते हैं। मोक्ष में जाने के लिए क्या करना? मोक्ष कैसे जाएँ? यह मार्ग ही जीव के हाथ में नहीं आता और कर्म बंध करता ही रहता है, तो संसार ही रहेगा।

जीवों की दृष्टि संकुचित हो गई है। महा आश्चर्यवाले समुद्र, पवन, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, तारा आदि के गुण देखने योग्य हैं, उनकी तो महत्ता लगती नहीं और अपना छोटा सा घर या थोड़ा सा पैसा हो तो भी उसकी महत्ता लगती है। उसका अहंत्व रहता है। जीव को दृष्टिराग है, यह उसको पता नहीं लगता। जीव मोहांध बन गया है। सत्संग, सत्पुरुष की पहचान नहीं। यह भ्रान्ति छोड़ना हो तो ज्ञानी का योग चाहिए, पर सत्संग का माहात्म्य नहीं। ज्ञानी का कभी परिचय हुआ भी हो तो अपनी इच्छा छोड़कर तदनुसार आचरण की रुचि होती नहीं। स्वच्छंद रुकता नहीं। अपनी इच्छा से ही आचरण करने का मन रहता है। इसकी इच्छानुसार ज्ञानी यदि कहे तो करें। स्वच्छंद न रोके तो मोक्ष कैसे हो? पाँच इन्द्रियों

के विषय जहर समान हैं; अनादि काल से भटकाने वाले हैं। ज्ञानी जिसे जहर कहें, वह इसे जहर लगता नहीं। ज्ञानी का अंकुश इस से सहा नहीं जाता। ज्ञानी का उपदेश तो आत्म-हित के लिए है, परन्तु अपने को कुछ उपदेश मिले तो अन्य को दिखाता फिरता है। लोगों में अच्छा दिखना चाहता है। अपने दोष दिखने कठिन हैं, पर दूसरों के दोष दिखते है। ज्ञानी की दृष्टि दीर्घ होती है। कैसे बंधे? कैसे छूटे? यह सब ज्ञानी जानते हैं। लेकिन जीव मानें नहीं तो ज्ञानी क्या कहे? ज्ञानी मिले, यह जाना कि आज्ञा में कल्याण है, तथापि बातों में जीव भूल जाता है।

श्री.रा.प.-३८५ (११४) बो.भा.-२ : पृ.-९४

सूर्य में कोई रात-दिन नहीं है। हमें न दिखे तब अस्त कह देते हैं और दिखता है तब उदय कह देते हैं। वस्तुतः सूर्य को उदय-अस्त कुछ नहीं। उसी तरह ज्ञानीपुरुष "है वैसे है" परन्तु जगत के जीवों को दूसरा-दूसरा लगता है। ज्ञानी की दशा लक्ष्य में नहीं आती। ज्ञानी ज्ञान स्वरूप हैं, वे स्वरूप को नहीं भूलते। ज्ञानी तो सभी अवस्थाओं में जैसे हैं, वैसे हैं। जीव को लगता है कि उपाधि में अपने को चिन्ता होती है, वैसी ही ज्ञानी को भी होती होगी। परन्तु ज्ञानी को हर्ष-शोक कुछ नहीं, सर्वत्र समभाव है। संसार में मेरा कुछ भी नहीं यह भाव से वे रहते हैं। पर जगत के जीव की जैसी दशा वैसी ही उन्हें ज्ञानी की दशा की कल्पना होती है, इस के कारण ज्ञानी की पहचान नहीं होती। वे वेदना से अलग रहते हैं पर जगत के जीव यों कल्पना करते हैं की उन्हें बहुत दुःख है। पर यह कल्पना उसे ज्ञानी को समझने नहीं देती। यह कल्पना छोड़ना है। ज्ञानी तो हंमेशा हर्ष-शोक छोड़कर समभाव में रहते हैं। उनका देहाध्यास छूट गया है अतः "मैं देह हूँ" यह इनको नहीं होता। आत्मा में ही सुख है। आत्मा में ही तृप्ति है ऐसा ज्ञानी को होता है। ज्ञानी आत्मा से तृप्त हैं; दूसरी वस्तु की इन्हें जरूरत नहीं। आत्मा के गुणों में ही इनकी वृत्ति समाई रहती हैं और कहीं वृत्ति नहीं जाती। आत्मा के सिवा अन्य किसी पदार्थ में सुख नहीं है। सन्तोष भी आत्मा में ही है। आत्मज्ञानी तो मुक्त है। देह को चाहे कुछ भी

हो पर ज्ञानी भिन्न रहते हैं। ज्ञानी को आत्मा में ही परितोष यानी संतोष, तृप्ति है। 'मूर्तिमान मोक्ष सत्पुरुष है।' (श्री.रा.प-२४९) सत्पुरुष की आत्मा ही मोक्ष की मूर्ति है। अपनी कल्पना छोड़े तो ज्ञानी की मुक्त दशा समझ में आएँ। जिसे सत्पुरुष में परमेश्वर बुद्धि हो गई है, वह ज्ञानी को किसी भी स्थिति में देखकर, उसकी श्रद्धा ज्ञानी के प्रति नहीं बदलती। ज्ञानी आत्मा को असंग रखते हैं। यह बात का अन्य को कैसे पता चले?

ज्ञानी, प्रारब्ध जिधर ले जाएँ, वैसे चलते हैं। छूटने के क्रम में ही हैं। उनको किसी से लेना-देना नहीं है। आत्मा का काम देखने-जानने का है, यही काम वे किया करते हैं। ज्ञानी, कर्म से मुक्तरूप ही रहते हैं। दूसरे जीव कर्म के उदय में जिस तरह रहते हैं, ज्ञानी भी उसी तरह लगते हैं, पर वे होते हैं अलग ही। मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहना, यह मार्ग ज्ञानी को सुगम लगता है। संकल्प-विकल्प तो कर्म के फल हैं। देखनेवाला (ज्ञाता-दृष्टा) संकल्प-विकल्प से जुदा है। संकल्प-विकल्प ऐसे के ऐसे नहीं रहते, आ आ कर चले जाते हैं। यह सारी क्रिया मन की है। ज्ञानी को भी अज्ञान दशा में बंधे कर्म आते हैं, पर ज्ञानी उनसे अलग रहते हैं। कृपालुदेव कहते हैं कि हम अपना प्रारब्ध आगे-पीछे करना नहीं चाहते, सहजता से हो, वही करते हैं।

हाथ-पैर को धूल लगी हो तो कुछ नहीं होता, पर आँख में पड़ी हो तो खटक-खटक होती है। उसी तरह संसार में, उन्हें वैराग्य होने पर भी रहना पड़ता है, अतः आँख से रेती उठा कर अन्यत्र रखने जैसा दुःख होता है। दूसरे जीवों का चित्त हाथ-पैर जैसा है, उदय में आई हुई क्रिया मशीन की तरह करते हैं। कृपालुदेवकी ऐसी दशा होने पर भी उपाधि बहुत थी। जिसे सामान्य वैराग्य हो, उसे उपाधि अच्छी नहीं लगती तो फिर जिसे आत्मज्ञान के साथ वैराग्य दशा झड़प से बढ़ रही हो, उसको तो उपाधि में आँख के पास से रेती उठाने जितना दुःख लगता है। परन्तु समभाव रखने की आदत होने से चित्त स्थिर रहता है। उनकी आत्मसमाधि का नाश नहीं होता। इतना अधिक वैराग्य और उपाधि भी इतनी अधिक, तो ऐसे

प्रसंग को कैसा गिनना? यह विचारणीय है, इस तरह कृपालुदेव सौभागभाईको लिखते है। विषम परिणाम का प्रसंग होने पर भी वृत्ति सम रहे तो विशेष कर्म क्षय होते हैं। नई कोई इच्छा होती नहीं। बस, पूर्व प्रारब्ध के कारण ही इस उपाधि में रहना पड़ता है। यह त्याज्य है, ऐसा कृपालुदेव के मन में होता रहता है।

जगत के किसी भी पदार्थ की ईच्छा नहीं होती। मात्र सत्संग की इच्छा रहती है। कोई पदार्थ में रूचि नहीं रही है, ऐसी बात किसी को कहें, तो कोई माने नहीं। लोगों की दृष्टि तो उपाधि के प्रति होती है, अतः वे तो उन्हें व्यापारी गिनते हैं। हमें अपूर्व सामग्री मिली है, वह भविष्य में मिलने वाली नहीं। पूर्व में जीव को ज्ञानी तो मिले, पर बाह्य दृष्टि रहने से पहचान नहीं हुई। इस से कल्याण भी न हुआ। कृपालुदेव सहजरूप ही है। व्यवहार में लिखना पड़े, करना पड़े, पर चित्त इसमें खिंचता नहीं। उपाधि में रहते हुए भी वे जल में कमलवत् रहते हैं।

श्री.रा.प.-३९९ (११५) बो.भा.-२ : पृ.-१०२

जो सत्संग में उल्लास भाव रहता हो तो थोड़े समय में बहुत काम हो जाता हैं। सत्संग से बहुत लाभ होता है। सत्संग का योग न हो तो भी समभाव में रहना, समभाव बिना छुटकारा नहीं। राग-द्वेष कम करना है यह न भूलना। ज्ञानी के योग में तो यही सुनने को मिलता है, पर ऐसा योग न हो, तब समभाव में रहना कठिन है, पर पुरुषार्थ करना आवश्यक है। हम भी यही करते हैं, आप सब को भी यही करना है, यह कृपालुदेव कहते है। जीव अपना दोष देखता नहीं। किसी के प्रति द्वेष न करो। जो संयोग उदयमें हो, उसमें दूसरों के प्रति द्वेष नहीं आना चाहिए। निमित्त का दोष निकालना नहीं चाहिए, यह सत्यमार्ग है। राग-द्वेष से अपना ही कर्म बंध होता है। समभाव आएँ तो कर्म बंध नहीं होता, अन्यथा कर्म बंध होता है। ज्ञानीपुरुष समभाव का ख्याल रखते हैं, अतः उनका कर्म बंध नहीं होता है। सत्पुरुष के प्रति द्वेष करें तो ज्यादा कर्मबंध होता है। हमें किसी को दुःख देनेकी ईच्छा नहीं है। पर पूर्वकर्म के अनुसार दूसरे जीव को दिल में दुःख लगे वहाँ हम निरुपाय है।

ज्ञानी की निन्दा नहीं करनी चाहिए। अपने परिणाम मत बिगाड़ो। द्वेष न होने दो। पूर्व के कर्म से कठिनाई आती है। उसमें जितनी सहनशीलता अड़िगता रहे, उतना आत्मा दृढ़ बनता है।

छूटने का मार्ग एक ही है, उपाधि में रहना और आत्मभाव में परिणमन होना, बहुत कठिन है। उपाधि न हो और निवृत्ति का क्षेत्र हो, तो भाव अच्छे रहते हैं। सत्संग को याद करना। उपाधि में भी निरूपाधिक सुख भूलना नहीं। उपाधि में समभाव रखना। जैसे जैसे सत्संग हो, वैसे वैसे रुचि जगे।

जिसे आत्मज्ञान हो गया है, उसे भी सत्संग की ईच्छा रहती है। पूर्व काल में किया हुआ सत्संग, इस काल में कृपालुदेवको याद आया। कैसा भी संयोग हो, राग-द्वेष मत करो। सत्संग करो पर इसका योग न हो, तथापि अपने परिणाम मत बिगाड़ो। कृपालुदेव को पूर्व के प्रारब्ध के कारण उपाधि में रहना पड़ता था। उनकी भावना तो निरुपाधिक ही थी। यही भाव सबको करने हैं। ज्ञानीपुरुषका आश्रित, जैसे ज्ञानीपुरुष कहें वैसे करता है। "यदि तू मुक्ति को चाहता है तो संकल्प-विकल्प, राग-द्वेष को छोड़" (श्री.रा.प-३७) तो मोक्ष अवश्य होगा।

सत्संग में इतनी वस्तु आवश्यक हैं :- (१) मैं कुछ नहीं जानता। (२) सत्संग की अपूर्वता आनी चाहिए। (३) विनयादि गुणयुक्त होना। (४) पाँच इन्द्रियों के विषयों के लोभ में न पड़ना। ये बातें शास्त्र पढ़ते और आत्म विचार करते समय भी कल्याणकारी हैं। ज्ञानी के कथन को समझना है। इस तरह आत्म विचार करते रहना। लौकिक बातें छोड़कर अलौकिक में वृत्ति रखना।

श्री.रा.प.-४१० (११६) बो.भा.-२ : पृ.-१०५

आराधना करने योग्य क्या है? शुद्धात्मा आराधन करने योग्य है। 'सर्व जीव है सिद्ध सम' यों कहा है, पर कहने मात्र से होते नहीं। 'जे समजे ते थाय।' जिस का आत्मस्वरूप प्रगट है, वह निरन्तर आराधन योग्य है। तेल की धारा की तरह अविच्छिन्न धारा से प्रगट आत्मस्वरूप

की आराधना योग्य है। जो जो मोक्ष गए हैं, उन सभी ने ऐसा किया है। जिसे आत्मा का काम करना है, उसे उस के लक्ष्य के बिना काम नहीं होगा। कृपालुदेव ने आत्मस्वरूप प्रगट किया है उनकी आराधना करे।

निरन्तर आत्मा के आराधन की इच्छावाले को भी कर्म बीच में आते है, तब उन कर्मों को कर्मरूप में देखे तो उसे बंध नहीं होता। ज्ञानी ने स्मरण आदि की शिक्षा दी हो तो उसमें चित्त रखें तो कर्म आ आकर चले जाते हैं। न किया हुआ भोगना नहीं पड़ता। किसी के शाप से किसी का बुरा नहीं होता। पर बुरा होनेवाला हो, तभी होता है। किसी के वचन से कार्य सिद्धि हो, तो यह भी पुण्य हो तभी होगी। ऐसी मान्यता है की उस के कहने पर हुआ, जैसे गौतमस्वामी के पास ऐसी लब्धि थी कि जिसे भी दीक्षा दे, उसे केवलज्ञान हो ही जाएँ, पर केवलज्ञान होनेवाला हो वह ही इनके हाथ में आता, ऐसा समझना।

एकेन्द्रिय भी मनुष्य बन कर मोक्ष में जाते हैं। यह भी किसी जीव की अपेक्षा से समझना है। शेष तो मनुष्यत्व मिलना ही बहुत मुश्किल है। मोक्ष की सामग्री मिलना भी दुर्लभ है। अभी अपने को सामग्री मिली है; तो उसकी किंमत नहीं है। मनुष्यभव, उत्तम कुल, सत्पुरुष का योग, उनकी आज्ञा और उस आज्ञा का पालन करने की शक्ति मिली है; वह पुनः मिलना दुर्लभ है। एक एक क्षण कंजूस की तरह प्रयोग में लेना। कर्म सिद्धान्त अटल है बदलता नहीं। दो और दो चार जैसा है।

श्री.रा.प.-४३६ (११७) बो.भा.-२ : पृ.-११६

कृपालुदेव कहते हैं जगत आत्मा आत्मा कहता है, पर हम आत्मारूप होकर आपको कहते हैं।

'समता, रमता, ऊरधता, ज्ञायकता, सुखभास;
वेदकता, चैतन्यता, ए सब जीव विलास।'

१. समताः- आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं, वे जैसे हैं, वैसे ही रहते हैं। उनमें एक भी कम या ज्यादा नहीं होता, समता गुण ऐसा है। जीव समता लक्षणवाला है। जीव को आत्मा की पहचान कराने के लिए लक्षण

कहे हैं। छः द्रव्यों में से आत्मा अलग करना है। विशेष संबंध पुद्गल के साथ है। पुद्गल से अलग करने के लिए लक्षण कहे हैं। २. **रमता**:- रमता अर्थात् सुन्दरता। वह आत्मा में है। 'आत्मा थी सौ हीन' आत्मा हो तो सब सुन्दर हैं। आत्मा के कारण सुन्दरता है। आत्मा की शोभा है। फूल कुम्हला जाए तो सुन्दर नहीं लगता, क्योंकि आत्मा निकल चुका है। आत्मा बिना सब शून्य सम है। जाननेवाला न हो तो सुन्दर कहे कौन? रमता यानी रमणीयता। आत्मा न हो तो शरीर बिगड़ने लगता है। दो दिन भी पड़ा रहे तो कीड़े पड़ जाते हैं। ३. **ऊरधता**:- ऊर्ध्व अर्थात् प्रथम रहने वाला। आत्मा पहले हो तभी सब काम हो। इसके आधार पर सारा जगत है। ४. **ज्ञायकता**:- ज्ञायक अर्थात् जानने वाला, जानने की जिसमें शक्ति है। इस के कारण आत्मा अन्य द्रव्य से अलग पड़ती है। आत्मा को जानना हो, तो ज्ञायकता लक्षण से ही जाना जाता है। ५. **सुखभास**:- मैं सुखी हूँ, ऐसा आभास जीव को होता है। सुख किस कारण लगता है, इसका विचार करे तो आत्मा सिवा अन्यत्र सुख होता नहीं, यह समझ आती है। यह जीव कपड़े पहनने में, खाने-पीनें आदि में सुख की कल्पना करता है। मन के आधार पर सुख की कल्पना करता है, परंतु सुख आत्मा के आधार पर है। आत्मा है तो सुख है। जड़ को क्या सुख? निद्रा में सुख लगता है, वहाँ कोई साधन नहीं, तो भी सुख लगता है, क्योंकि वहाँ आत्मा है। आत्मा के सिवा कहीं भी सुख नहीं है। ६. **वेदकता**:- यह ज्ञायकता से जरा भिन्न है। नरक के जीवं दुःख का वेदन करते हैं, वह ज्ञानी जानते हैं किन्तु वेदन नहीं करते। वेदन में जीव को स्पष्ट अनुभव होता है। आत्मा के सिवा अन्य पदार्थ में सुख-दुःख का वेदन नहीं होता। ७. **चैतन्यता**:- चैतन्यता में सब भास होता है। चैतन्य में सब गुण समा जाते हैं। जानना, देखना, यह सभी का सामान्य गुण चैतन्यता है। आत्मा का उपयोग है, वह पर पदार्थ में से पुनः आत्मा में आएँ, तो उस के चैतन्य गुण में सारा जगत दिखता है। जड़ में नहीं, वह चेतन गुण आत्मा में हैं। आत्मा के ये लक्षण कहे वे सब प्रत्येक आत्मा में है। सिद्ध भगवान में भी ये गुण हैं।

"भास्यो देहाध्यास थी, आत्मा देह समान;
पण ते बन्ने भिन्न छे, प्रगट लक्षणे भान।" ४९ आ.सि.

आत्मा अरूपी पदार्थ है, किन्तु उसके लक्षणों से पहचान होती है।

श्री.रा.प.-४३८ (११८) बो.भा.-२ : पृ.-११९

जीव के ये सब लक्षण हैं:-

समता, रमता ऊरधता, ज्ञायकता, सुखभास;
वेदकता, चैतन्यता, ए सब जीवविलास।

उपरोक्त प्रकार से जीव द्रव्य कहा है, उसके प्रत्येक गुण का परिणमन एक साथ हुआ करता है। श्री तीर्थंकर यों कहते हैं कि जगत में अनेक धर्मस्थापक ऐसे हुए हैं जिन्होंने आत्मा संबंधी बातें की हैं, उनके प्रति हमें उदासीनता हैं। दूसरे धर्मस्थापकों के आत्मा संबंधी विचार एकांतिक है, परस्पर विरोधी हैं। हमने तो यथार्थ आत्मा को जाना है। वह जिस तरह से कहा जाए कहते हैं। जीव के लक्षण हम जो कहते हैं, उनका खण्ड़न कोई कर नहीं सकता। ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप आत्मा है। ज्ञान से जाना, दर्शन से देखा और चारित्र से आत्मा में स्थिर हुआ। तीर्थंकर आत्मारूप ही हुए हैं। आत्मा कैसा है, वह कहते हैं :-

१. **समता:**- आत्मा का एक लक्षण समता है। लोग जिसे समता कहते हैं और यहाँ जो समता के बारेमें कहा है उसमें फर्क है। सामान्यतः तो राग-द्वेष न करना ही समता है, किन्तु यहाँ ज्यों है त्यों रहना वह समता है। आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं, वे तीनों काल में रहनेवाले हैं। आत्मा अरूपी और नित्य है। वह प्रदेश-प्रदेश में चैतन्यस्वरूप है। तीनों काल चैतन्यता रहती है। चिंटी हो या हाथी हो, उसके असंख्यात प्रदेश में से एक प्रदेश भी बढ़े या घटे नहीं, वह समता नामक गुण है। प्रभुश्रीजी कहते थे की कितनी ही बार यह जीव नरक में भी जा आया, पर इसका बाल भी बाँका न हुआ, एक प्रदेश भी नहीं घिसा।

२. **रमताः**- आत्मा का स्वभाव रमणीय है। यह आत्मा न हो तो शरीर दुर्गंधी वाला बने। मुर्दे को कस्तूरी से भरें तो भी दुर्गंध आएँ। वृक्ष को काटनेके बाद उसमें से जब जीव निकल जाता है, तब सुंदरता चली जाती है। पुद्गल सुंदर दिखता है, वह सारी सुंदरता, आत्मा के कारण ही है। आत्मा बिना सुंदर कहे कौन? अंदर आत्मा है, वह सब रचना करती है। सुंदर वस्तु, रमणीय वस्तु आत्मा है। जैसा समता गुण आत्मा का है वैसा रमता गुण भी जीव का है। आत्मा के कारण सब रमणीय दिखता है। यह न हो तो फिर कौन कहे कि यह सुंदर है?

३. **ऊरधताः**- स्वयं न हो तो कुछ पता नहीं चलता। पहले स्वयं हो तभी दूसरा पता चलता है। सर्व में ऊपर रहने का जिसका लक्षण है, वह ऊरधता गुण है। कोई भी वस्तुको जानने से पहले अपना जीव है, उसके बिना कुछ भी जान नहीं शकते और जड़ वस्तु कुछ नहीं जानती। ऊरधता धर्म आत्मा का है। ग्रहण करना, त्यागना या आओ या जाओ, ऐसी उदासीनता का कारण आत्मा ही है। आत्मा की मदद बिना कुछ होता नहीं। पहले आत्मा हो तो सब जानना, करना आदि होता है। यह आत्मा का उर्ध्वता गुण है।

४. **ज्ञायकताः**- लगता है। जाने वह जीव, न जाने वह जड़। **जाननेवाले को जाने तभी आत्मा का अनुभव हो। जिसमें ज्ञायकता है वह जीव है।** कोई जानने का बंद करे कि मुझे कुछ भी नहीं जानना, परन्तु जाने बिना रहा ही न जाएगा। आत्मा का अनुभव करना हो तो ज्ञानोपयोग रखना। **जाननेवाला ही मेरा स्वरूप है। जीव का अनुभव करने के लिए इस ज्ञायकता गुण का विचार करने की जरूरत है।**

"जे दृष्टा छे दृष्टिनो, जे जाणे छे रूप;
अबाध्य अनुभव जे रहे, ते छे जीव स्वरूप।" ५१ आ.सि.

सब को बाद करते-करते जो बचे यानी शेष रहे वह ज्ञायकता गुण है। ज्ञान गुण अन्य किसी मे नहीं होता। अतः यह जीव का मुख्य लक्षण है। अत्यंत अनुभव का कारण ज्ञायकता

है। दूसरे लक्षणों से ज्ञायकता अत्यंत अनुभव का कारण है। इस में यदि रहे तो अनुभव हो। आत्मा चैतन्यस्वरूप है। वह जाने बिना रहे नहीं, क्योंकी जानना उसका स्वभाव है।

५. **सुखभासः**- सुख का भासन होना, जीव का एक लक्षण है। जड़ को तो "मैं सुखी" ऐसा कुछ होता नहीं। इन्द्रियों का सुख या समाधि सुख इन सबका मूल कारण खोजते, आत्मा है। आत्मा में सुख है। जड़ में यह गुण नहीं। मुझे आज मीठी नींद आई, यों कहते हैं। वहाँ सुख के दूसरे कारण न थे, आत्मा थी। आत्मा ही सुख का कारण है। सुख, आत्मा का गुण है। यह पुद्गल में नहीं रहता। यह जीव का ही लक्षण है। निद्रा के दृष्टान्त से यदि विचार करें तो सुखभास नामक लक्षण का पता लगता है।

६. **वेदकताः**- अर्थात् अनुभव करना। ज्ञायकता में जानना है और वेदकता में अनुभव करना है। जानने से वेदकताके अनुभव में फर्क है। इस स्वभाव के कारण वस्तु का अनुभव होता है। सुख-दुःख का जानना-देखना वह वेदकता नहीं, पर सुख-दुःख का अनुभव हो तब वेदकता कहा जाएँ।

७. **चैतन्यताः**- जीव, चेतन, आत्मा यह एक ही है। वेदान्त ने कहा कि मायावाला हो वह जीव और माया रहित हो वह आत्मा है। जैन धर्म में ऐसा भेद नहीं है। जीव दो प्रकार के हैं :- संसारी और सिद्ध। दोनों जीव है, चैतन्य गुणवाले हैं। सब पदार्थ आत्मा में प्रकाशमान होते हैं, वह चैतन्यता गुण के ही कारण है। चाहे कैसा भी चमकता सूर्य हो पर आत्मा न हो तो सूर्य को प्रकाशमान कहे कौन? सूर्य न तो जानने के लिए स्वयं समर्थ है और न ही समझाने के लिए। चैतन्यता में पदार्थ का प्रकाश पड़ता है। चैतन्यता=स्व पर प्रकाशकता, आत्मा का गुण है। किस कारण जानने का कार्य होता है? इसका बहुत विचार करें तो आत्मा हाथ में आ सकता है। 'जैसे घट-पटादि पदार्थ हैं, वैसे आत्मा भी है। अमुक गुण होने के कारण जैसे घट-पटादि होने का प्रमाण है, वैसे स्व-परप्रकाशक चैतन्य-सत्ताका प्रत्यक्ष गुण जिसमें है ऐसा आत्मा होने का प्रमाण है।' जाननेवाले को छोड़कर जीव अभी अन्य-अन्य जानता है। यदि जानने वाले के प्रति उपयोग दे तो आत्मा का पता लगे।

'भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देह समान;
पण ते बन्ने भिन्न छे, प्रगट लक्षणे भान।' ४९ आ.सि.

उपरोक्त लक्षण विचारे तो आत्मा देह से भिन्न मालूम हो। देहाध्यास से आत्मा देह समान हो गई है, परंतु दोनों के लक्षण भिन्न भिन्न जाने तो आत्मा भिन्न लगे।

'छे देहादिथी भिन्न आत्मा रे, उपयोगी सदा अविनाश;
एम जाणे सद्गुरु उपदेशथी रे, कह्युं ज्ञान तेनुं नाम खास।'

आत्मा को लक्षण से और वेदन से भिन्न जान कर अपने में अनुभव करे तो उसमें लीनता आएँ।

श्री.रा.प.-४४६ (११९) बो.भा.-२ : पृ.-१२१

संसार के स्वरूप का तो जीव को अनादि काल से परिचय हैं, अतः राग-द्वेष रूप संसार में जीव अटक गया है। यह संसार जीव को आकर्षित करता है। अपने जैसा बना लिया है। ऐसे संसार में समय मात्र का भी प्रमाद न करना। आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं। वह प्रत्येक प्रदेश जानने का काम करते हैं। संसारी जीव स्वरूप को शुद्ध रीति से नहीं जानता, अतः वह जो भी जानता है, उसमें राग-द्वेष होते हैं। इस जगत के सब पदार्थों के प्रति इसका उपयोग जाता है। जीव निमित्तवासी है। जब निमित्त के सामने पड़े तब वृत्ति भटकती अटकती है। अभी राग-द्वेष के प्रति वृत्ति है। संसार का स्वरूप राग-द्वेष करावे ऐसा है। प्रदेश-प्रदेश में जीवको आकर्षित करे ऐसा स्वरूप है। अतः इस में वृत्ति रखने की तीर्थंकर भगवन्तों ने मना की है। ज्ञानी कहते हैं, संसार को पीठ दो, संसार की ईच्छा मत करो।

ज्ञानी कहते हैं कि तू इस से बिल्कुल भिन्न है। आत्मा संसारी हो गया है। ज्ञानी की आज्ञापालन करे तो मोक्ष हो। पर इस से छुटे तो मोक्ष हो, आत्मा आत्मा में लीन बने। तू है मोक्षस्वरूप। पर वस्तु आत्मा की नहीं है। आज अन्यत्र आकर्षण होता है, भिन्न-भिन्न पदार्थ में वृत्ति जाती है। वहाँ से उपयोग खींचे तो आत्मा में उपयोग रहे, अर्थात् अन्तर्मुख वृत्ति

हो। अंदर से उस का देहाध्यास छूटें, तो कर्त्ता-भोक्ता का भाव मिटे। यही धर्म का मर्म है।

दूसरी वस्तुओं की जीव संभाल रखता है। किन्तु आत्मा न दिखने से, उसकी संभाल नहीं रखता। **आत्मा संबंधी अंतरंग रुचि सत्पुरुष के बिना नहीं होती। आत्मा तो मोक्षस्वरूप है। पर वस्तु में उपयोग तन्मय हो गया है, वह छूटे तो मोक्ष हो। 'तेरा एक आत्मा, आत्मा देखो।' ऐसे प्रभुश्री जी कहते।** सत्संग में कषाय मंद होते हैं। मंद कषाय के समय ज्ञानी के वचन की चोट लगती है, इससे उसे अपने हित की गरज़ लगती है। आत्मज्ञानी की दृढ श्रद्धा ही मोक्ष की नींव है। वहीं से धर्म का प्रारम्भ होता है। इसी को शास्त्रों में समकित कहा है। सत्संग में कषाय मंद होकर दृष्टि मध्यस्थ होती है, विचार जागृत होते हैं। सत्पुरुष के संग बिना अरूपी पदार्थ का निर्णय होना बहुत दुर्लभ है।

किस का संग करना? इस का किसी को निर्णय हो, तो भी सत्संग मिलते रहना बहुत दुर्लभ है। कृपालुदेव ने सत्संग के स्थान पर कई जगह सत्पुरुष शब्द का प्रयोग किया है। सत्पुरुष की पहचान होने के बाद भी उसका सत्संग मिलना बहुत मुश्किल है। इतना भी जीव का पुण्य नहीं होता। कृपालुदेव सोभागभाई को लिखते हैं 'आपको सत्पुरुषकी पहचान हुई है पर आपको सत्संग नहीं रहता।'

उपाधि के प्रति द्वेष नहीं करना। यदि द्वेष करे तो नया कर्म-बंध हो। जो जो प्रसंग आएँ, उनमें राग-द्वेष न करना। सुख-दुःख आत्मा को हानिकर्ता नहीं। जीव पर वस्तु की चिन्ता कर के कर्म बांधता है। मन ही शत्रु है, मन ही मित्र है। जीव अपने दोष नहीं देखता। जीव ने नरक में बहुत वेदना सहन की है, वैसा दुःख तो यहाँ नहीं है। समझ पर सब आधार है। सही समझ हो तो सहन कर लें। जीव परेशान हो तो आर्तध्यान हो। उससे कर्म बंधते हैं। मन खाली रहे तो आर्तध्यान हो। जीव संसार की घटमाल में चला जाता है, उसे रोकना। 'थोड़ी देर भले तूँ राग द्वेष कर' भगवान ने ऐसा नहीं कहा। भगवान ने तो समय मात्र के प्रमाद की मना

की है। आत्मा उपयोग स्वरूप है। उपयोग में राग-द्वेष विकार हैं। वे निकल जाएँ तो आत्मा में उपयोग रहे। स्वयं स्वरूप में रहे। आत्मा आत्मारूप में रहे, ऐसा करने के लिए सत्संग सत्पुरुष का योग है। जीव आत्मा को भूलता है, यह ही मृत्यु है। 'क्षण-क्षण भयंकर भाव मरणे कां अहो ! राची रहो?' समय-समय जीव विभाव में जाता है, यह मरण है, यह शत्रु है। किसी का दोष नहीं, अपना ही दोष है। 'तेरे दोषसे तुझे बंधन है यह संतकी प्रथम शिक्षा है।' (श्री.रा.प. १०८)

श्री.रा.प.-४४७ (१२०) बो.भा.-२ : पृ.-१२३

जहाँ उपाय न चले, ऐसे काम में बुद्धिमान को खेद कर्तव्य नहीं है। जो बने, वह देखा करो, क्योंकि अपने हाथ में नहीं है। जो बनना होगा, वही बनेगा। ज्ञानी की आज्ञा से चले, तो कर्म बंध न हो। जीव को समता रखना मुश्किल है। प्रवृत्ति आत्मा का धर्म नहीं। सच्ची समझ कर लेनी चाहिए। समझ की कमी है तब तक बाह्य दृष्टि है, इसी से अन्यथा होता है। 'मैं पामर क्या कर सकूं?' ऐसा विवेक जिसके हृदय में हो उसे कोई खेद नहीं होता।

संसार के अनुकूल प्रसंगों में त्याग आना कठिन है। त्याग की भावना भी नहीं होती। ऐसा कुछ करें कि संसार अच्छा न लगे। संसार को एक क्षण भी याद न करो। संसार में दुःख लगे तो संसार खराब लगे। दुःख तो अच्छा है। वह जीव को जगाता है। प्रतिकूल प्रसंग चिंतकको हितकारी हैं। कोई जीव यहाँ से समकित पाकर नरक में जाएँ, तो भी सम्यक्त्व को संभालकर ले जाते हैं और देवलोक में जाएँ तो खो भी दे। दुःख में आत्मा को कोई हानि नहीं। 'देह दुःखं महाफलं।' जितना पुरुषार्थ करे, उतना आत्मवीर्य बढ़ता है।

कोई एक भक्त था। वह भगवान की बहुत भक्ति करता। भगवान उस पर प्रसन्न हो गए। वरदान मांगने को कहा; तब भक्त ने कहा, 'भगवन्! मुझे कुछ नहीं चाहिए। मुझे दुःख दो ताकि मेरी दृष्टि आत्मा तरफ जाएँ।' संसार सब कल्पित है, आत्मा को दुःखी करनेवाला है। सत्संग हुआ हो,

किन्तु संसार प्रसंग की अनुकूलता हो तो वैराग्य आना मुश्किल है। संसार में सुख नहीं, संसार में रहने जैसा नहीं। संसार के सुख और दुःख, कर्म के फल हैं। अतः दोनों बराबर है, मोक्षमार्ग को रोकनेवाले हैं। मुझे क्या हितकारी है, यह बात का जीव को भान नहीं। ज्ञानी ने तो आत्मा के सुख को सुख कहा है।

श्री.रा.प.-४५४ (१२१) बो.भा.-२ : पृ.-१३२

ज्ञानी मिले, वचन सुने, नमस्कार किया, दर्शन किया तो उस का फल तो होना चाहिए? संसार में ही प्रीति है तो ज्ञानी को देखा ही नहीं। संसार जहर सम लगे, सत्पुरुष का कथन ही कर्तव्यरूप लगे, तभी ज्ञानी को पहचाना कहलाएँ। ज्ञानी के वचन सुने तो बदल जाएँ। सुन कर संसार पर अभाव न हो तो ज्ञानी के वचन सुने ही नहीं। ज्ञानी को ज्ञानी के रूप में न पहचाने तो दर्शन किया ही नहीं, ऐसा कहा जाए। ज्ञानी आत्मा है यों जाने, माने तो कल्याण हो। ज्ञानी के वचन सुनने पर भी अभी संसार में ही वृत्ति है। ज्ञानी के वचन सुन कर जीव की वृत्ति न बदले तो या तो कहने वाला ज्ञानी नहीं, अथवा सुनने वाले में योग्यता नहीं। ज्ञानी को दृष्टि बदलवानी है, आत्मदृष्टि करानी है। आत्मार्थी को भव में खेद होता है। भव से थकान लगे। संसार की रुचि कम हो और ज्ञानी के वचनों के प्रति प्रीति हो ऐसा अवश्य करना चाहिए। जिसे कुछ करना है, ज्ञानी उसी को कुछ कहते हैं। ज्ञानी का योग होने पर भी जीव को गुण प्रगट न हों, संसार की ही प्रीति हो, तो योग हुआ न हुआ, समान है। जिसमें से संसार बीज जल गया है, ऐसे सत्पुरुष के वचन सुन कर भाव न बदलें तो मानो योग ही नहीं हुआ। भ्रमर विष्टा की गोली मुँह में रख कर फिरे तो बाग की सुगंध आएँ? वैसे ही संसारी, वासना रख कर सत्पुरुष के पास जो सुना हैं उसे अपनी मति अनुसार मानता है। ऐसा यदि होता है तो जीवने सत्पुरुषको देखा ही नहीं। चारों गति में कहीं भी सुख नहीं। जिस मार्ग से ज्ञानी सुखी हुए वही मार्ग लेना है। ज्ञानी के वचनों की जिसे इच्छा है, वह दूसरी इच्छाएँ नहीं करता।

राग-द्वेष के कारण सारा संसार है। ज्ञानी के वचन इस की कमर तोड़ सकते हैं। यह लाठी लगे तो फिर संसार बढ़ाने की रुचि न रहे। ज्ञानी के वचन सत्य लगे हों तो फिर संसार में दौड़े? संसार में बड़े बने तो संसार बढ़ता है। कमर टूट गई हो तो फिर संसार में दौड़ की इच्छा न रहे। फिर यदि पूर्व कर्म के कारण करना पड़े तो वेठ जैसा करे। ज्ञानी के वचन अधिक परिणमें हों तो संसार न रहे। वचन की असर के अनुसार संसारी बल कम होता है।

चारों गति में दुःख है। ज्ञानीपुरुष को देखे तो आत्मा को देखे। आत्मा कैसी बलवान है! उसे जानने के लिए ज्ञानी का अवलंबन, साधनरूप है। **ज्ञानी को आत्मदृष्टि से देखे तो जगत को भी आत्मदृष्टि से देखे। ज्ञानी को देहदृष्टि से देखे तो जगत को भी देहदृष्टि से देखे।** ज्ञानी के वचन सुने हों, तो पुद्गल, पुद्गल लगे। आत्मा सुन्दर वस्तु है। देह की सुन्दरता आत्मा के कारण है, अन्यथा मुर्दा भयंकर लगे। देह में अपूर्व वस्तु आत्मा है। उसे देखने के बदले मल-मूत्र हाड-माँस को देखता है। आत्मा के कारण ही सब पवित्र है। आत्मा देखने की दृष्टि आए तो ज्ञानी की भी पहचान हो। ज्ञानी की भक्ति से ज्ञानी की पहचान होती है। अपूर्व गुण दृष्टिगोचर हो कर आत्मबोध हो, वह भक्ति का फल है। **'आत्मा देहादि से भिन्न है।' यह समझने के लिए वचन हैं। जो दिखता है, वह सब नाशवंत है। ज्ञानी के वचन सुनकर, 'मैं देह से भिन्न हूँ' यों करना है। दृष्टि बदले तो देह को देह और आत्मा को आत्मारूप देखे। इसे अन्तर-वैराग्य कहा है। अचेतन भींत जैसी देह है।**

धन तो देह से भी भिन्न है। मिट्टी के ढ़ेफे समान शरीर है। देह पर मोह है, अतः धनादि में मोह होता है। **मैं देह नहीं, ऐसा लगे, तो सच्चा वैराग्य हो।** धन आत्मा को मलिन करनेवाला है। परिग्रह, संसार के साथ कड़ी जोड़नेवाला है, पाप है। धन, ऊँची जाति का कंकर है।

देवकरणस्वामी को एक बार कृपालुदेव ने पूछा, 'आप व्याख्यान करते हो तो कितने व्यक्ति आते हैं?' देवकरणजी बोले, 'हजारेक।'

कृपालुदेव ने कहा 'स्त्रियाँ आती हैं?' तो कहा "हाँ"। कृपालुदेवने कहा, 'उन को देख कर विकार होता हैं?' मुनिने कहा, 'हाँ, परंतु आप हीरा-माणेक का व्यापार करते हो वह देख कर आपको आसक्ति होती हैं?' कृपालुदेवने कहा, **हमें तो वे कालकूट जहर जैसे लगते हैं। पृथ्वी के विकार जैसे या कंकर जैसे लगते हैं।**

ज्ञानीपुरुष को देखा हो, पहचाना हो तो दूसरी वस्तुओं के प्रति जो प्रेम है, वह ज्ञानी के प्रति हो। अन्यत्र इसे रुचे नहीं। दूसरी वस्तुओं को अच्छी न गिने। ज्ञानी की पहचान हुई तो ज्ञानी ने जो प्राप्त किया है, वही प्राप्त करना है, ऐसा हो। सत्पुरुष मोक्ष की मूर्ति है, यों लगे। इसका मन स्थिर रहे। सारे जगत का विश्वास उठ जाएँ। आत्मा सुख स्वरूप है, वह अलौकिक है। यह समझ आएँ तो ज्ञानी के सिवा अन्यत्र वृत्ति न जाएँ। महापुरुष पूर्व में ऐसा उपदेश देते थे, तब वे सरल जीव उन वचनों को अवधारण करते थे। प्राण जाएँ पर वचन भूलते न थे। गुण ग्रहण करनेवाले वे जीव थे। सरल जीव थे। अतः वस्तु झट चिपट जाती। 'विशाल बुद्धि, मध्यस्थता, सरलता और जितेन्द्रियता, इतने गुण जिस आत्मा में हों वह तत्त्व पानेके लिये उत्तम पात्र है।' देह कामका नहीं है। ज्ञानी के वचन काम के हैं, क्योंकि आत्मा को प्रगटानेवाले हैं।

ज्ञानी के वचन की पहचान हो तो देह, धनादि पर दृष्टि न जाएँ। मनुष्यभव दुर्लभ है। उसमें सत्पुरुष का योग और भी दुर्लभ है। सारी जिंदगी काम आने वाले वचन हैं। यह वचन भूलने जैसे नहीं हैं। प्राणत्याग का प्रसंग आए, तो भी ज्ञानी के वचन गौण न करना। ज्ञानी के वचन भूलना नहीं। ज्ञानीपुरुष के वचन ध्यान में रखना। संसार में रुचि न रहे, ऐसा करना है।

ज्ञानी के बोध से जो लाभ हुआ वह लूँट न जाएँ, इसके लिए आत्मा का हिंतकार्य करते रहना। दृष्टि बदलनी हो तो बदल सकती है। पूर्व में जो कर्म बंध हुआ हो वह तो न बदले, पर दृष्टि तो बदली जा सकती है। ज्ञानी के कथन में लक्ष्य रखना। ऐसे वचन सुन कर आत्मा संबंधी अभ्यास बढ़ाना। आत्मा अपरिचित वस्तु है, अतः अभ्यास की आवश्यकता है।

ज्ञानी के बोध से जो लाभ हुआ है वह लूँट न जाएँ, इस लिए जहाँ जाएँ वहाँ उदासीनता रखें। अल्प भी वस्तु की इच्छा न होने दें। किसी में एक छोटा सा भी गुण देख कर आनन्द होना चाहिए। अपने में कोई भी दोष हो तो, बहुत खेद होना चाहिए। सात व्यसन से न छूटा हो, तो भक्ति नहीं होती। भक्ति, उसके हृदय में नहीं टिकती। सात व्यसन का त्याग हो तो अधोगति न हो। मुझ तो दोष निकाल कर ज्ञानी की ही शरण में रहना है, ऐसी दृढ़ भावना रखना। कोइ दोष दूर हो जाए तब आनन्द पा कर फूल नहीं जाना, पर दूसरे दोष निकालना। सम्यक्‌दर्शन से पूर्व बहुत पुरुषार्थ करना है। आत्मा को मलिन करने वाले दोष हैं। मेरेमें दोष नहीं है, ऐसा कह कर वाद न करना। ज्ञानी का कथन लक्ष्य में रखे, तो सत्संग है। बारम्बार अपने दोष देख कर ठपका देना चाहिए। विषय-कषाय के सामने लड़ना है। समय मात्र भी व्यर्थ न गँवाना। कितनी ही कमाई की, तब यह मानवभव मिला। मैं देह नहीं, आत्म-उपयोग में ही आत्मा है। वह कभी नाश नहीं होती। **वचन सुनते ऐसा लगना चाहिए कि देह में आत्मा नाम का कोई पदार्थ है। सुनते सुनते मान्यता में फर्क आता है। अंतर की बात है। वचन की बात नहीं। अन्तर बदले तो सम्यक्‌दर्शन होवे।**

"जे स्वरूप समज्या विना, पाम्यो दुःख अनन्त।" अनन्त दुःख पा कर भी जीव को होश नहीं आई। मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी अनन्त काल से साथ में है। जिसे ज्ञानी का आश्रय है, उनकी आज्ञा पालन करें, तो उसका कल्याण ही है। मिथ्यात्व जाने का यह रास्ता है। अहंकार जाएँ तो जो कोमलता आएँ, मुझे नहीं मालूम, ऐसा हो। सत्पुरुष के वचन सुन कर उल्लास आना चाहिए कि धन्य भाग्य मेरा। इसके बदले यह तो मैं ने सुना है, मुझे आता है, यह तो मैं जानता हूँ, ऐसा माने। उनके वचन मामूली लगे उससे जीवको विश्वास नहीं होता। ज्ञानी के योग से जो लाभ होता है, उसकी महत्ता नहीं लगती। सत्संग में चाहे कैसे भी कड़वे वचन, व्याधि, पीड़ा आए, सब बरछी, भाला हैं तथापि सत्संग छोड़ना नहीं। असत्संग में, जहाँ आत्मा की श्रद्धा छूट जाएँ, वहाँ चाहे लड्डु मिलते हों तो भी न जाना।

जाने से सत्संग का रंग जो चढ़ा है वह चला जाता है। ज्ञानी के वचन सुनने में बहुत लाभ है। कृपालुदेव के वचन तो हितकारी ही है, पर मोक्षमार्ग में ज्ञानी की आज्ञा से चढ़ना चाहिए। पकड़ होना मुश्किल है। जैसी पकड सत्पुरुष के योग से हो, वैसी पुस्तकों से नहीं होती। यह तो मैं जानता हूँ, ऐसा हो जाता है। आत्मा की दृष्टि बदलनी चाहिए और वह ज्ञानी के यथार्थ योग बिना नहीं बदलती। सुने, तो कुछ समझ लगे, समझे तो फिर कुछ विचार करें। **"श्रवणे नाणे विन्नाणे।"** विज्ञान हो। आत्मा गुरुगम बिना हाथ नहीं आता। जड़ जड़ और चेतन चेतन ही रहता है। एकमेक नहीं होता। आत्मा अजर-अमर है। कर्म न बांधने का पुरुषार्थ करना। संसार का डर लगे, तो नया कर्मबंध न हो। कर्म उदय में आयेंगे परन्तु पुनः नया कर्म बाँधे तो न छूटे और न बाँधे तो सम्यक्‌दर्शन हो, केवलज्ञान हो, मोक्ष हो, सब हो। सम्यक्‌दर्शन के लिए, दर्शनमोह क्षय के लिए, यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, अन्तर करणरूप श्रेणी में जीव जैसा पुरुषार्थ करता है, वैसे का वैसा पुरुषार्थ जीव करता ही रहे तो थोड़े काल में मोक्ष हो जाएँ। यदि शिथिल हो जाएँ तो एक भवमें या तीसरे भवमें मोक्ष जाएँ, इससे ज्यादा शिथिल हो तो पन्द्रह भव में तो जरुर मोक्ष में जाए। और यदि सम्यक्‌दर्शन को छोड़ दे तो उससे बढ़ते बढ़ते काल में या आखिर अर्धपुद्‌गल परावर्तन में तो मोक्ष हो ही। हमें निवृत्तिद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के प्रति भाव करना, वह मिले तो आत्मा का काम कर लेना।

श्री.रा.प.-४७३ (१२२) बो.भा.-२ : पृ.-१४७

जैसा प्रसंग मिले, वैसा जीव हो जाता है। अनेक प्रकार के विकल्प जीव को होते रहते हैं। मन को खाली न रखें। वांचन, स्मरण, स्वाध्याय आदि किसी में लगे रहे। अन्यथा कैसे कर्म बंध हो कुछ कहा नहीं जा सकता। ज्ञानी के वचनों में चित्त रहे तो धर्मध्यान हो, वर्ना आर्तध्यान तो होता रहे, उससे कर्मबंध होता रहे। खाली मन में अनेक विकल्प उठते हैं। काम हाथ में हो तो उस में चित्त रहता है। मन बहुत चंचल है, इसे कुछ

काम देना चाहिए। मन रूपी भूत को ज्ञानी की आज्ञा रूपी बाँस पर चढ़ उतर कराएँ तो वश में रहे, उसे थका दो। कर्म के धक्के के समय 'यह मुझे योग्य है या अयोग्य' यह विचार नहीं रहता। बहुत उत्तम शिक्षा है। बिना परेशानी जीव नहीं रहता, समय समय कर्म बंध होता रहता है। मन को वांचन में, मनन में, मुखपाठ में, लिखने में व्यस्त रखना, काम हो तब तक मन ठीक रहे पर खाली मन पानी की तरह नीची दिशा में जाता है, इससे बहुत कर्म बंध होता है। मन को अच्छा न लगने वाला काम ही कराना है। जीव को अपनी पसंद के काम में अच्छा लगता है और बिन पसंद के काम में अस्वस्थ लगता है।

मन को एकाग्र करना है। "आज्ञा में ही एकतान हुए बिना परमार्थ के मार्ग की प्राप्ति बहुत ही असुलभ है।" (श्री.रा.प-१४७) आज्ञा में रहने सिवा, मन को वश करने का दूसरा कोई रास्ता नहीं है।

पूर्व में कर्म बाँधे, वे भोगने पड़ते हैं। ऐसा का ऐसा तीव्र उदय हमेशा नहीं रहता। घबराहट थोड़े समय में जा सकती है, पर उस समय धीरज न रखे तो नए कर्म बँधे। इससे कर्म की स्थिति अधिक पड़ जाएँ। वह थोड़े समय में न मिटे। केवली भगवान ने जैसा देखा है, वैसा होनेवाला है, ऐसा मानकर कुछ भी विकल्प न करना। 'मन को मौन कर डालना।' अर्थात् मन कोई भी संकल्प-विकल्प न करें। मुँह से मात्र बोलना नहीं, इतना ही नहीं, पर मन काबू में रहे तब सच्चा मौन है। विकल्प रोकना वस्तुतः मौनत्च है।

संसारी प्रसंगों में दूसरों के साथ मिल न जाना। आत्मा अकेला ही भला है। धर्म के नाम पर स्वार्थ सेवे तो धर्म से जीव दूर चला जाता हे। सोभागभाई को जो जो आदतें थी, वे थोड़ी थोड़ी कर के छुड़वा दीं। इस पत्र में कही शिक्षा प्रत्येक को माननी चाहिए। जिस को सम्यक्त्व प्राप्त करना है, उन सब के काम की है। बोधज्ञान-सम्यक्ज्ञान पर लक्ष्य रख कर यह पत्र लिखा है।

श्री.रा.प.-४९१ (१२३) बो.भा.-२ : पृ.-१५१

ज्ञानी भगवान के शब्द सुषुप्त मानव को जागृत करने वाले हैं। हे जीव ! तुम बोध पामो अर्थात् समझो। जीव को स्वरूप की समझ नहीं। क्या करना, वह पता नहीं। संसार में दुःख वेदन करता है, वह कैसे मिटें? ऐसा नहीं होता। पर मैं जानता हूँ, ऐसा होता है। ज्ञानी ने जैसे कहा है-जाना है, वैसा जानना हैं। जीव मेरा-तेरा करता है पर ज्ञानी कहते हैं कि तेरे साथ कुछ न जाएगा। सम्यक् प्रकार से बोध ग्रहण करो। किस लिए जन्मे? दूसरी वस्तुओं की किंमत लगती है, पर मनुष्यभव किंमती नहीं लगता। मनुष्यभव मिलना दुर्लभ है। लाख चौराशी में भटकते कभी कभी ही मनुष्यभव मिलता है। इस भव में ही मोक्ष का काम हो सकता है। ज्ञानी ने बहुत विचार कर के यह निर्णय लिया कि मनुष्यभव दुर्लभ है। दूसरों को मानवभव की किंमत नहीं है। क्षण भर में कितने ही कर्म बंध हो जाएँ और क्षण भर भी यदि सत्पुरुष का समागम हो जाएँ तो भवसागर तिर जाएँ।

"क्षणमपि सज्जन संगतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका।" क्षण क्षण आयु क्षीण हो रही है। देखते ही देखते मनुष्यभव के कितने सारे वर्ष निकल गएँ। लक्ष चौराशी में जीव भटकता फिरता है। मनुष्यभव में बुद्धि मिली है, तो पुरुषार्थ कर लेना चाहिए। चारों गति दुःख की ही खान है। चारों गति कहो या संसार कहो, इसमें तिल जितनी जगह भी सुखरूप नहीं। मानव भव लूँट जाने का कारण अज्ञान और अज्ञानी का संग है। अज्ञानी के संग से अज्ञान ही बढ़ता है। सम्पूर्ण लोक में जन्म-जरा-मरण हो रहा है। सम्पूर्ण लोक एकांत दुःख में जल रहा है, ऐसा ज्ञानी को लगता है। जहाँ राग-द्वेष हैं, वहाँ जलन है। राग-द्वेष की अग्नि से जीव जलते रहते हैं। चारों गति में जीव का मूल स्वरूप रहा नहीं, क्योंकि जैसा कर्म किया वैसा उदय आया। देह का आकार जीवत्व नहीं है। विपर्यास अर्थात् जैसा है, वैसा न रहा। विपर्यास मति हो गई है। सर्व जीव अपने-अपने कर्मों से विपर्यासत्व अनुभव करते हैं। मिथ्यात्व है, तब तक विपर्यासत्व ही है। मैं कोन हूँ? इसका विचार जीव को नहीं होता कि जैसा कर्म उदय में होता

वैसा जीव बन जाता है। क्रोध आएँ तो क्रोधरूप, स्त्री का उदय हो तो स्त्रीरूप, मानता है। संसार में ऐसे दुःख हैं।

इससे मुक्त होना हो तो आत्मा का विचार करना। सब दुःख से मुक्ति का उपाय आत्मा की दृढ़ भावना रखना। आत्मभान बिना दुःख से मुक्त नहीं हो सकते। आत्मा अरूपी है, ऐसे पहचानी न जाएँ, अतः सत्संग की दृढ़ भावना करना। व्रत-नियम-यात्रा ये सब बाद में, पर पहले सत्संग करना। इसके अलावा आत्मा का कल्याण नहीं, सत्संग से आत्मा का निर्णय होता है, फिर साधना सफल होती है। सत्संग मिला हो और आग्रह दूसरा हो तो सत्संग निष्फल जाता है। यम, नियम का आग्रह छोड़कर मुझे एक आत्मा को पहचानना है, यों विचार कर सत्संग करना। जहाँ तहाँ से मुझे आत्मज्ञान करना है, यह लक्ष्य हो तो इस भाव को पुष्टि मिलती है। अन्यथा जीव बाहर की वस्तुओं में खो जाता है। जगत के जीव बाह्य व्रत-तप देखते हैं, इन्हें ज्ञान तरफ लक्ष्य नहीं है। कुसंग का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। दूसरे सब व्रत-नियम आदि को अप्रधान करके सत्संग करना। ऐसा लक्ष्य रखें कि मुझे आत्मा की पहचान करना है। आत्मज्ञान होने पर पुरुषार्थ सफल होगा, अन्यथा बोझरूप होता है। आत्मा की उपासना के लिए सत्संग की उपासना करना। सत्संग की उपासना के लिए संसार त्यागने योग्य है यह लक्ष्य रखना। वरना दूसरे विचार आएँगें। सांसारिक भाव कम करने पर सत्संग की विशेष रुचि होगी। संसारके जन्म मरण कैसे छुटें? इस तरह विशेष विचार होने पर सत्संग का विशेष लाभ होता है। सत्संग के उपासक को विषय-कषाय के भाव त्यागने से सत्संग फलवान होगा। जीव मिथ्या बुद्धि छोडे और मैं कुछ नहीं जानता, मुझे सत्संग की आज्ञा से ही लाभ है, यह निर्णय करके सर्व शक्ति से आज्ञा का पालन करें। जो संसार की उपासना न कर के ज्ञानी की आज्ञा की उपासना करता है, वह सत्संग की उपासना करता है। सत्संग में हुई आज्ञा का पालन ही वह सत्संग की उपासना है। जिसे जन्म मरण से छुटना हो, उसे क्या करना वह सब इसमें लिखा है कि 'सर्व दुःख से मुक्त होने का अभिप्राय जिसे

हुआ हो, उस पुरुष को आत्मा की दृढ़ भावना करनी चाहिए और आत्मा का गवेषक यम-नियमादि सर्व साधन का आग्रह गौण करके सत्संगकी गवेषणा (दृढ़ भावना) रखना और उसकी उपासना (आराधना) करना। जिन्हें सत्संग की दृढ़ भावना हो, उन्हें संसारकी आसक्ति छोड़नी ही चाहिए। अपने गलत अभिप्राय का त्याग करके अपनी सर्वांग शक्ति से उस सत्संगं की आज्ञा का पालन करना। तीर्थंकर ऐसा कहते हैं कि जो जीव उस आज्ञाकी उपासना करता है, वह अवश्य सत्संगकी उपासना करता है और जो सत्संगकी उपासना करता है, वह आत्माकी उपासना करता है और आत्मा की उपासना करने वाला सभी दुःखोसे मुक्त होता है'' (द्वादशांगीकासूत्र) यह सही संकलना है। सब शास्त्रोंका सार इतना ही है। अतः इसे 'द्वादशांगीका' सूत्र कहा है। जीव को सुखी होना है और सुख का मार्ग कृपालुदेव बताते हैं, लेकिन उसकी आराधना करनी चाहिए।

'हे जीवों ! तुम बोध ग्रहण करो।' यह 'सूयगड़ांग' की गाथा हैं।

यह सामान्य बात कही, अब कृपालुदेव अपने दिल की बात कहते हैं। हमें सत्संग मिलें ऐसा दिलमें हुआ करता है। चाहे कितनी भी अनुकूलता हो, पर सत्संग बिना अच्छा नहीं लगता। पूर्वभव में सत्संग का विशेष लाभ मिला है। अतः सत्संग याद आता रहता है। सत्संग की इच्छा निरन्तर रहती है, किन्तु सत्संग का योग नहीं। पैसा आदि जाने का हमें खेद नहीं होता, पर सत्संग न मिलने का खेद रहता है। संसार के सगे-संबंधी सब अपिरिचित जैसे लगते हैं। बिना सत्संग मन नहीं लगता, कर्मानुसार इस सब संयोगों में रहना पड़ता है। इसमें आनन्द नहीं आता। आत्मा को वहीं आनन्द आएँ कि जहाँ ज्ञानी का, मुमुक्षु का, मार्गानुसारी का समागम हो। वे मानो बहुत समय के परिचित हो, ऐसा लगता है। सत्संग के प्रति प्रीति है, वह मिलने से चित्त प्रफुल्लित होता है। जगत की कोई इच्छा नहीं उठती। जलकमलवत् निर्लेप रहते हैं, तथापि कोई मार्गानुसारी हो, तो उसके कल्याण की भावना रहती है। सत्संग का निमित्त हो, वहाँ चित्त प्रसन्न होता है। ज्ञानी का संग परम सत्संग है। समान वृत्ति

वाले का संग भी सत्संग है और अपने से नीची दशा वाले जीवों का संग भी जो जीव ज्ञानी के वचन पढ़ते हों, विचारते हों, वे भी हितकारी हैं।

जहाँ संसार की बातें हों, वह कुसंग है। सब से बड़ा कुसंग मिथ्याग्रही साधु-साध्वियों का है। कुटुम्ब के काम ऐसे हैं कि जो (आत्म कल्याण) करना है, वह रह जाता है। इससे वह भी (कुटुम्बकाज) एक प्रकार का कुसंग है। 'भालसौ भुवनवास, कालसौ कुटंबकाज' (श्री.रा.प-७८१) ऐसी दशा महापुरुष की होती है। (सिनेमा - नाटक भी कुसंग है) इसकी जो आदत हो जाय तब आत्मा का विस्मरण हो जाएँ। क्रोधादि कुसंग है। इन सब कुसंगों से बचने का हैं और निरंतर भावना सत्संग की करनी है। मेरा कल्याण सत्संग से होगा, यह भावना रखना। इस जीव को अपनी मान्यता छोड़कर बारम्बार सत्संग हो तो चित्त निर्मल बने और आत्मा निर्मल बने। फिर देह छूट भी जाएँ तो सत्संग के संस्कार साथ लेकर जाएँ। पक्का रंग नहीं उतरता।

श्री.रा.प.-४९३ (१२४) बो.भा.-२ : पृ.-१५४

जो दिखता है, वह सब नाशवन्त है। आत्मा को जानने से कोटि कर्म नाश होत हैं। छः पद में सम्यग्दर्शन रहा हुआ है। छः पद की श्रद्धा हो, तो मोक्ष हो जाएँ। सम्यग्दर्शन मोक्ष की नींव है। नींव तूटे तो मकान तूटे।

समकित कहता है, मुझे विचार कर के ग्रहण करना। मोक्ष में न जाना हो, तो यदि मुझे ग्रहण कर लिया तो मैं जबरजस्ती से मोक्ष में ले जाऊँगा। समकित का ऐसा बल है। जो नहीं दिखता उस आत्मा को देखना है।

जीव के अनन्त दोष है, किन्तु घबराना नहीं। दोष टालने का लक्ष्य रखना। भगवान के गुणों में प्रीति ही भक्ति है। कृपालुदेव की भक्ति करते हुए, उन के गुण वारंवार याद आते हैं। उनका ज्ञान कैसा था? स्मृति कैसी थी? भूल में पड़े जगत को आत्मा का ज्ञान बताया है। ये अपूर्व गुण विचारें, याद करें तो विशेष उपकार होता है।

छः पद का पत्र (विवेचन सहित)

अनन्य शरण के दाता ऐसे श्री सद्गुरुदेव को अत्यन्त भक्ति से नमस्कार।

अनन्य शरण अर्थात् अनादि काल से संसार में निराधाररूप में परिभ्रमण किया, उस दुःख से बचाकर आधार देने वाले सद्गुरु समान दूसरा कोई नहीं है। संसार में अनन्त दुःख हैं। उसमें से तारने वाले एक सद्गुरु ही है। वे जीव को सम्यग्दर्शन करा कर सच्चा अन्तर-शरण पकड़ाते है। अरिहंत, सिद्ध, धर्म, साधु ये चार बाह्य शरण व्यवहार से कहते हैं। समकित न हुआ हो तब तक ये समज़ में नहीं आता और यह अन्तर-शरण तो आत्मा को पहचानने वाली शरण है। अतः अनन्य शरण देने वाले सद्गुरुदेव ही है। उन को अत्यन्त- कल्पित मर्यादारूप जो अन्त, उसको उल्लंघ जानेवाली अमर्यादित-भक्ति से नमस्कार हो।

वास्तविक ज्ञान अनन्य शरण अपने ही अवलम्बन से रहा है।

जो शुद्ध आत्म स्वरूप को प्राप्त हुए हैं ऐसे ज्ञानीपुरुषों ने नीचे कहे हुए छः पदों को सम्यग्दर्शन के निवास के सर्वोत्कृष्ट स्थानक कहे हैं

जिन्होंने आत्मा का शुद्धस्वरूप प्राप्त किया हैं, ऐसे ज्ञानीपुरुषों ने नीचे के छः पद को सम्यकृत्व के निवास के सर्वोत्कृष्ट स्थानक कहे हैं। ये भाव विचारते (सोचते) सम्यक्त्व हो जाता है। प्रत्येक पद में आत्मा रही है और छःपदमें भी एक ही आत्मा है। (१) आत्मा है (२) नित्य है (३) कर्त्ता है (४) भोक्ता है (५) मोक्ष है (६) मोक्ष प्राप्ति है। अतः आत्मा, उसकी पहचान, बंध से रूककर मुक्त होना, अंतरंग धर्म की श्रद्धा-समझ सम्यक्दर्शन है।

प्रथम पदः- 'आत्मा है।' घट-पट आदि पदार्थों की तरह ही आत्मा भी है। अमुक गुण होने के कारण जैसे घट-पट आदि के होने का प्रमाण है, वैसे स्व-परप्रकाशक चैतन्यसत्ता का प्रत्यक्ष गुणवाली आत्मा होने का प्रमाण है।

प्रथम पद **आत्मा** है। आत्मा को समझाने के लिए दो पदार्थ हैं जीव और अजीव। अजीव पाँच है - पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

उन में से यहाँ पुद्गल के दृष्टान्त के लिए घट और पट कहे हैं। घड़ा या वस्त्र अजीव है पर उस को जाननेवाला - देखनेवाला दूसरा पदार्थ भी है, वह जीव है। जैसे घड़े पर कपड़ा लपेटा हो, उसको देखनेवाला आत्मा अलग है, वैसे घट अर्थात् देह, पट अर्थात् वस्त्र सहित है उसमें आत्मा रहा है। इस तरह देह अथवा पुद्गल और आत्मा दो भिन्न पदार्थ हैं, यह बताया।

देह, वस्त्र आदि सब जड़ पदार्थ उनके गुण रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि से जान सकते हैं। गुणों के बिना गुणी मालूम नहीं होता। उसी तरह आत्मा भी उसके गुणों से मालूम होती है। जो घट-पटादि को जानता है और अपने आत्मस्वरूप को भी अनुभव से जानता है, वह आत्मा है या चैतन्यसत्ता, अस्तित्व, जीव है ऐसा कहा जाता है।'मैं हूँ' यह पता लगता है वह जीवत्व गुण जिसका है वह पदार्थ - आत्मा है, इस तरह प्रत्येक रीति से प्रगट अनुभव में आता है। ज्ञान-जानना, दर्शन-देखना, सुख-दुःख का वेदन आदि गुण वाला चेतनरूप पदार्थ, आत्मा है। स्वप्रकाशकता से अनुभव किया जा सकता है। परप्रकाशता से अनुमान किया जा सकता है। अतः स्व-परप्रकाशक गुण प्रत्यक्ष है, वह आत्मा का लक्षण है।

दूसरा पदः- 'आत्मा नित्य है।' घट-पट आदि पदार्थ अमुक कालवर्ती है। आत्मा त्रिकालवर्ती है। घट-पटादि संयोगजन्य पदार्थ हैं। आत्मा स्वाभाविक पदार्थ है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति के लिए कोई भी संयोग अनुभव योग्य नहीं होते। किसी भी संयोगी द्रव्य से चेतनसत्ता प्रगट होने योग्य नहीं है अतः अनुत्पन्न है। असंयोगी होने से अविनाशी है। क्योंकि जिसकी किसी संयोग से उत्पत्ति न हो, उसका किसी में लय भी नहीं होता।

दूसरा पद **आत्मा नित्य है**। घट-पट आदि जड़ पुद्गल परमाणुओं के संयोग से बनते हैं। वे अलग हो जाएँ तो पदार्थ नाश हुआ माना जाता है। आत्मा कोई ऐसे पुद्गल मिलने से या आकाशादि अन्य द्रव्य के मिलने से उत्पन्न नहीं हुई, वह तो स्वाभाविक पदार्थ है। जैसे रसायणशास्त्र में

हाइड्रोजन, नाईट्रोज़न आदि मिलाकर कोई नया पदार्थ बनाते हैं, वैसे आत्मा कोई बना नहीं सका। ऐसे यदि आत्मा बनती होती तो वह बाजार में बिकती। भविष्य में भी कोई इस तरह आत्मा को उत्पन्न करे, यह शक्य नहीं है। तीनों काल में वह उत्पन्न नहीं की जा सकती, अतः अनुत्पन्न है। और जो अनुत्पन्न हो वह अविनाशी भी होता है। क्योंकि कोई पदार्थों के मिश्रण से बना हो तो वे पदार्थ अलग होते ही उस का नाश हो जाता है। जैसे सोना घिसते घिसते अमुक काल बाद मिट्टीरूप बन कर नाश होता है। परन्तु आत्मा अनन्त काल से जन्म-मरण के दुखों का वेदन करते संसार में फिरता है, तथापि इसके असंख्यात प्रदेशों में से एक प्रदेश भी अलग नहीं पड़ता। वह टंकोत्कीर्ण संपूर्णता से अपने स्वरूप में अखण्डित रहा है, रहता है और रहेगा। तीनों काल में उस का अस्तित्त्व है, इसलिए नित्य है।

'अनुत्पन्न ऐसे इस जीव को पुत्ररूप से मानना या मनवाने की इच्छा रहना, यह सब जीव की मूढ़ता है।' (श्री.रा.प-५१०) जिसकी उत्पत्ति अन्य किसी भी द्रव्य से नहीं होती, उस आत्मा का नाश भी कहाँ से हो? 'अज्ञान से और स्वस्वरूप के प्रमाद से आत्मा को मात्र मृत्यु की भ्रान्ति है। उसी भ्रान्ति को निवृत्त कर के शुद्ध चैतन्य निज अनुभव प्रमाणस्वरूप में परम जागृत होकर ज्ञानी सदा निर्भय है।' (श्री.रा.प-८३३) आत्मा नित्य है उसका दृढ़ लक्ष्य हो तो 'अब हम अमर भये, न मरेंगे।' ऐसा आनन्दघनजी महाराज ने गाया है, इस तरह का अनुभव होगा।

तीसरा पदः- 'आत्मा कर्त्ता है।' सर्व पदार्थ अर्थक्रियासम्पन्न हैं। किसी न किसी परिणाम-क्रिया-सहित ही सर्व पदार्थ देखने में आते हैं। आत्मा भी क्रियासम्पन्न है, इसीलिए कर्त्ता है। उस कर्तृत्व का त्रिविध श्री जिन ने विवेचन किया है; परमार्थ से स्वभावपरिणति से आत्मा निजस्वरूप का कर्त्ता है। अनुपचरित (अनुभव में आने योग्य-विशेष संबंधसहित) व्यवहार से यह आत्मा द्रव्यकर्म का कर्त्ता है। उपचार से घर, नगर आदि का कर्त्ता है।

तीसरा पद **आत्मा कर्त्ता है।** सर्व पदार्थ को अपना कार्य अर्थात् अर्थ क्रिया है। क्रिया दो प्रकार से १. मात्र स्वरूप में परिणमनरूप २. परिस्पन्द अर्थात् हलनचलनरूप। छहों द्रव्य समय समय पर परिणमनरूप क्रिया कर रहे हैं। पुद्गल और जीव को दोनों क्रिया है।

चेतन का क्रियारूप में प्रवर्तन होता है, वह श्री जिन ने तीन प्रकार से बताया है :-१. शुद्ध निश्चय नय विभाव परिणमन को लक्ष्य में नहीं लेता। शुद्ध द्रव्य की परिणति को ही लक्ष्य में लेता है। अतः स्वभाव परिणमन से अपने चेतन गुणत्व में ही आत्मा परिणमन करती है और चेतन स्वभाव का ही कर्त्ता होती है। २. चेतन का ही विभावत्व परिणमन होता है तब अनुपचरित अर्थात् अनुभव में आने योग्य अत्यन्त निकट संबंध वाले कर्म के संबंधरूप व्यवहार नय से आत्मा, आठ कर्म का कर्त्ता कहलाती है। वस्तुतः विभाव परिणाम के निमित्त से कर्म पुद्गल ग्रहण हो कर पुण्य-पाप का बंध होता है। उस द्रव्य कर्म का कर्त्ता आत्मा (असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनयसे) संबंध के कारण कहलाती है। वह द्रव्यकर्म यद्यपि सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं देता, लेकिन आत्मा को जन्म-मरण, सुख दुःख का कारण होने से महत्त्व का है। ३. पुद्गल पदार्थों में परिवर्तन करनेरूप घर नगर इत्यादि अनेक कार्य जीव करता है, वे कार्य आत्मा से विशेष दूर और स्पष्ट भिन्न होने से पुद्गल क्रियाओं का आत्मा में आरोप करने रूप उपचार से पुद्गल पदार्थों का वह कर्त्ता है।

चौथा पदः- आत्मा भोक्ता है। जो जो क्रिया है वह सब सफल है, निरर्थक नहीं है। जो कुछ भी किया जाता है, उसका फल भोगने में आता है ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव है। विष खाने से विष का फल, मिसरी खाने से मिसरी का फल, अग्निस्पर्श से अग्निस्पर्श का फल, हिमस्पर्श से हिमस्पर्श का फल जैसे होता ही है, वैसे कषायादि या अकषायादि जिस भी परिणाम से आत्मा वर्ते, उस का फल भी होता ही है। उस क्रिया का कर्त्ता होने से आत्मा भोक्ता है।

चौथा पद **आत्मा भोक्ता है**। सर्व पदार्थों में अर्थक्रिया होती है, उसका फल भी आता है परन्तु उस फल से सुख-दुःख का अनुभव करने की शक्ति *एक आत्मा में ही है, इसलिए वह भोक्ता है। विष, अमृत, अग्नि, हिम आदि* में जो विशिष्ट गुण हैं, उनका संबंध होने से आत्मा उन गुणों को अनुभव करनेरूप फल प्राप्त करती है। लोहचुम्बक से जैसे सूई आकर्षित होती है, वैसे तीव्र या मंद कषाय सहित आत्मा परिणमन करें तो वैसा कर्म बंध होता है, और कषाय रहितता से परिणमन करें तो कर्म बंध नहीं होता। जीव यदि कर्म बांधे तो संसार के सुख-दुःख रूप फल को पाता है और कर्म न बांधे तो बंध रहित आत्मा का सहज सुख भोगनेरूप मोक्ष प्राप्त होता है। परमार्थ से स्वभावपरिणति से आत्मा निज स्वरूप का भोक्ता है, और अनुपचरित व्यवहार से वह द्रव्य कर्म के फल का भोक्ता है।

पाँचवा पदः- 'मोक्ष पद है।' जिस अनुपचरित व्यवहार से जीव के कर्म के कर्तृत्व का निरूपण किया, कर्तृत्व होने से भोक्तृत्वका निरूपण किया, उस कर्म का टलने का स्वभाव है, क्योंकि प्रत्यक्ष कषायादि की तीव्रता हो परन्तु उसके अनभ्यास से, उसके अपरिचय से, उसे उपशम करने से, उसकी मंदता दिखती है। वह क्षीण होने योग्य दिखता है, क्षीण हो सकता है। वह बंध भाव क्षीण हो सकने योग्य होने से उस से रहित जो शुद्ध आत्म-स्वभावरूप मोक्ष पद है।

पाँचवा पद **मोक्ष पद है**। छःपद में जो कर्तृत्व कहा है वह सामान्यतः कर्म के कर्तृत्व की अपेक्षा से कहा है। अपने स्वरूप में परिणमन करना वहाँ कर्तृत्व कथन मात्र है। आत्मा का विभाव परिणमन से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग से - अथवा राग, द्वेषरूप कषाय से - जीव कर्म बांधता है और बद्ध कर्म काल पकने से रस दे तब सुख-दुःख का वेदन हो, उससे जीव को कर्म का कर्त्ता और भोक्ता कहा है। इस तरह अनादि काल से वह कर्म का व्यवसायी है। सद्गुरु कहते हैं कि वह कर्म टाला जा सकता है, इस का विचार करें तो स्पष्ट प्रमाण है। कषाय के कारण बंध पड़ता है। निमित्त मिलते क्रोध, काम, लोभ आदि करने का खूब

अभ्यास है, वह अभ्यास छोड़ दे अर्थात् वैसे निमित्त में आत्मा बल से क्षमादि धारण करे, क्रोधादि भावों को भूलने के लिए स्वाध्यायादि में मन को रोके, पूर्व में कषाय किया हो उसकी विस्मृति करें और वर्तमान में कषाय रहित रहे। किसी दुष्ट मनुष्य का परिचय हो जाने के बाद अपरिचय करना हो तो सामने मिले तो भी पहचानते नहीं, इस तरह रहे, विस्मृति करें। उस तरह अभ्यास करते बुद्धिपूर्वक कषाय - रहितता से आत्म स्वरूप में रहा जाएँ तो उपशम हो अर्थात् कुछ समय कषाय के उदय में न खिंचे। इस तरह अप्रमत्त दशा से आत्मा का बल बढ़ता जाएँ तब एक समय पूरा बल लगा कर श्रेणि मांडे (शुरु करें) और उन कषायों को मूल से उखेड़ डाले, सत्ता में से ही क्षय कर डाले तब वे सदैव के लिए छूट जाएँ। इस तरह प्रथम अनंतानुबंधी फिर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और अन्त में संज्वलन कषायों को क्षय करे, तब मोक्ष हो। आत्मा का कर्त्ता-भोक्ता भाव मिटे और उसकी शक्तियाँ बढ़ते बढ़ते पूर्णता को प्राप्त हों। क्रोधादि घट सकते हैं, यह तो प्रत्यक्ष अनुभव की बात है। तब उनका सर्वथा क्षय भी हो सकता है अर्थात् मोक्ष पद की, कषाय रहित या कर्मबंध रहित दशा की साबिती होती है।

छठा पदः- 'उस मोक्ष का उपाय है।' यदि कर्म बंध मात्र होता ही रहे तो उसकी निवृत्ति किसी काल में संभव नहीं है, परन्तु कर्मबंध से विपरीत स्वभाव वाले ज्ञान, दर्शन, समाधि, वैराग्य, भक्ति आदि साधन प्रत्यक्ष हैं। जिस साधनों के बल से कर्म बंध शिथिल होता है, शांत होता है, क्षीण होता है, इसलिये वे ज्ञान, दर्शन, संयमादि मोक्षपद के उपाय हैं।

छठा पद **मोक्ष का उपाय** है। आस्त्रव=कर्म आने के कारण, कषायादि हैं, उससे विरुद्ध स्वभाव वाले संवर के कारण हैं जिससे आते हुए कर्म रूके और पुराने कर्म झड़ जाएँ वे संवर और निर्जरारूप मोक्ष के उपाय हैं।

ज्ञानः- आत्मज्ञान। जीव पर को जान रहा है, उस से मुड़ कर आत्मस्वरूप को जाने तो कर्मबंध रूके।

दर्शन:- सम्यक्दर्शन। जीवादि पदार्थों का स्वरूप भगवान ने जैसा कहा है, वैसी श्रद्धा रखे और आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करें, तो कर्म रुक जाएँ।

समाधि:- सम्यक्चारित्र। आत्मस्वरूप में स्थिरता करने के लिए योग की क्रिया को रोके, जिससे कर्म की निर्जरा हो और नए बंध न हों। 'आत्म परिणाम की स्वस्थता को श्री तीर्थंकर समाधि कहते हैं।' (श्री.रा.प-५६८)

वैराग्य:- राग नहीं वह। संसार में - देहादि में आसक्ति के कारण कर्म आते हैं। आत्मा का अनुभव होने से देहादि जब नीरस लगें, वह ज्ञानगर्भित वैराग्य है, उससे निर्जरा होती है और नया भव खड़ा नहीं होता।

भक्ति:- शुद्धात्मा के प्रति भाव, प्रशस्त राग, शुद्धस्वरूप का लक्ष्य और उसे पाने के लिए आत्मस्वरूप में तन्मयता, प्रेम। इससे पर वस्तु का मोह दूर हो कर सत्पुरुष की आज्ञा में रहते हुए अपने स्वरूप को प्राप्त करता है। भक्ति से अपने दोष, कमियाँ जान कर दूर करता है। परमात्मस्वरूप को भजते परमात्मा के गुण प्रगट होते हैं।

इस तरह ये सब साधन लौकिक अर्थ में नहीं परन्तु वास्तविक शुद्धात्म स्वरूप की प्राप्ति के लिए करे तो मोक्ष के उपाय हैं।

मोक्ष के इन साधनों में प्रथम सम्यक्ज्ञान कहा है। सम्यक्ज्ञान ही आत्मा है। वह स्वाध्याय और ध्यान से पा सकते हैं। स्वाध्याय अर्थात् आत्मा का लक्ष्य होने के लिए जो सीखना, पढ़ना, विचारना वह ज्ञान आराधना है। वह स्वाध्याय पाँच प्रकार का है:- १. **वाचना** अर्थात् गुरुके पास से कुछ सीखने की आज्ञा प्राप्त करनी या गुरु शिष्यको विधिपूर्वक वाचना (पाठ) देना। २. **पृच्छना**:- स्व-पर की शंका दूर करने के लिए विनय पूर्वक पूछना और जो कहे वह अवधारण करना। ३. **परावर्तना**:- पुनरावर्तन करना, एक बार पढ़ा हुआ, पुनः पुनः वाँचना, धुन लगाना। इससे चित्त रूकता है। एकाग्रता होने से आत्मा में जुड़ा जाता है। यही लक्ष्य

होना चाहिए। "प्रभुश्रीजी कहते पानुं फरे ने सोनुं झरे।" कृपालुदेव एक ही गाथा घंटा, दो घण्टे तक बोलते रहते। ४. **अनुप्रेक्षा:-** अर्थ विचार करना, भावना करना। ५. **धर्मकथा:-** कोई सुविचार आया हो तो वह व्यवस्थित रीति से कह बताना, वह व्याख्यान, चर्चा है। इस तरह धर्मकथा करने से विशेष विचार करना पड़ता है और कभी नहीं भूलता । व्याख्यान कर्ता, जो धर्मकथा आत्मा के लक्ष्य से करें, तो स्व हितार्थ के लिए है। सुननेवाले को वह वाचनारूप होती है। ये स्वाध्याय के भेद कहे। ज्ञान के भेद मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल ये मुख्य पाँच हैं, वह आत्मज्ञान सहित हैं, उनमें उपयोग जोड़ना। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग अर्थात् निरंतर स्वाध्याय और ज्ञान ध्यान में रहना यह संवर का मुख्य साधन है। दर्शन अर्थात् श्रद्धा; देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा। गुरु पर श्रद्धा होने से उनकी आज्ञा मान्य होती है। आत्मा की श्रद्धा दृढ़ कर लेना। छः पद विचार कर दृढ़ श्रद्धा करना। नव तत्त्व समझना। जितने प्रमाण में श्रद्धा दृढ़, उतने प्रमाण में वीर्य स्फुरता है। **'रुचि अनुयायी वीर्य चरणधारा सधे'** रुचि हो उतना वीर्य स्फुरायमान हो और उतने प्रमाण में चारित्र अथवा आत्मा में स्थिरता कर सकें।

समाधि:- 'आत्म परिणाम की स्वस्थता को श्री तीर्थंकर समाधि कहते हैं।' 'सर्व परद्रव्य से वृत्ति को हटाकर के आत्मा अक्लेश समाधि को पाता है। परम सुखस्वरूप, परमोत्कृष्ट शांत, शुद्ध चैतन्यस्वरूप समाधि को सदाके लिए पानेवाले भगवन्तों को नमस्कार, उस पद में जिनका निरन्तर लक्ष्यरूप प्रवाह है, उन सत्पुरुषों को नमस्कार। सर्व से सर्व प्रकार से मैं भिन्न हूँ, एक केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमशान्त चैतन्य हूँ। मैं मात्र निर्विकल्प हूँ। मैं निजस्वरूपमय उपयोग करता हूँ, तन्मय होता हूँ।' (श्री.रा.प.-८३३)

उपशम-वैराग्य:- जहाँ कषाय क्लेश नहीं वह उपशम है और गृह-कुटुम्बादि में आसक्ति न हो वह वैराग्य है। अन्यत्व भावना से वैराग्य दृढ़ होता है।

भक्तिः- मोक्ष के लिए ज्ञान और भक्ति दो मार्ग है। ज्ञानमार्ग में जो ज्ञान, प्रगट है उसमें एकाग्र होते समकित प्रगटावे, फिर सम्यक्ज्ञान से आराधना करते करते, उसी में स्थिर होते कर्मक्षय करते केवलज्ञान प्रगट होता है। यह मार्ग बहुत विकट है। कोई तीर्थंकर जैसे बलवान पुरुष इसके द्वारा कर्म क्षय कर सकते हैं। मोह बहुत बलवान है, वह उदय में आ कर, आत्मा को राग-द्वेष करा कर, विषयभोग में आसक्त करके समकित से गिरा देता है। समकित होने में प्रथम सत्पुरुष के अवलम्बन से ही बल आता है। जो बलवान पुरुष वर्तमान जन्म में निरालम्बरूप से समकित प्रगट करते है, उन्हों ने भी पूर्व जन्म में सत्पुरुष की आराधना की होती है। अतः समकित होने में सत्पुरुष, ज्ञानी गुरु का अवलम्बन, बलदायक है और जब तक केवल ज्ञान न प्रगटे तब तक ज्ञानी का अवलम्बन सामान्य बल वाले जीवों को जरूर होना चाहिए। ज्ञानी की आराधना करते, उन की आज्ञा में चलते, उनके वचनों को विचारते सुगमता से आत्मभावना की जा सकती है। मानादि शत्रुओं का नाश किया जा सकता हैं।

"भक्ति आदि" साधन कहे, उनमें विनय, दान, तप आदि अनेक साधन आत्मा को कर्म क्षय करने के लिए, ज्ञान प्राप्त कराने के लिए जरूरत के हैं। प्रारम्भ में समकित होने में जीवों को भिन्न भिन्न साधन विशेष हितकारी होते हैं, परन्तु आगे बढ़ते कर्मक्षय का मार्ग सब जीवों के लिए अधिक समान होता जाता है।

सम्यक्ज्ञान, दर्शन और चारित्र अथवा संयम, इन उपायों से कर्म का संवर और निर्जरा होकर सम्पूर्ण कर्मक्षय होते मोक्ष की प्राप्ति होती है।

श्री ज्ञानीपुरुषों ने सम्यक्दर्शन के मुख्य निवासभूत कहे ये छः पद यहाँ संक्षेप में बताए हैं। समीपमुक्तिगामी जीव को सहज विचार में ये सप्रमाण होने योग्य हैं। परम निश्चयरूप प्रतीत होने योग्य हैं। उसका सर्व विभागोसें विस्तार होकर उसके आत्मामें विवेक होन योग्य हैं। ये छः पद अत्यंत संदेह रहित हैं, ऐसा परमपुरुष ने निरूपण किया है। इन छःपदों का विवेक जीव को स्वस्वरूप समझने के लिए कहा है।

सम्यग्दर्शन के हेतु ये छः पद संक्षेप से कहे हैं। वह जो पूर्व के आराधक, समीपमुक्तिगामी, कर्म से अल्प काल में छूटनेवाले जीवों को सहजता से ही सत्य लगते हैं। सुने और विचारे तो सब रीति से न्याय युक्त लगें अथवा समीपमुक्तिगामी को अपने स्वविचार में गहरा उतरने से आत्मा का साक्षात्कार हो कर अनुभवसिद्ध सप्रमाण हो। छः पद सुनकर, उन पर विस्तार से विचार करें, उसे आत्मा और अनात्मा का भेद समझने का विवेक आएँ। इन छः पद की सत्यता में शंका को जरा भी स्थान नहीं, ऐसा भगवान ने कहा है। ये छः पद का विवेचन संसार में भूले भटके अज्ञानी जीव को अपने स्वरूप को जानने के लिए, आत्मस्वरूप को समझने के लिए किया है।

अनादि स्वप्नदशा के कारण उत्पन्न हुए जीव के अहंभाव-ममत्वभाव से निवृत्त होने के लिए इन छः पद की ज्ञानीपुरुषों ने देशना प्रकाशी है। उस स्वप्नदशा से रहित मात्र अपना स्वरूप है, जीव यदि ऐसा परिणाम करे, तो सहज मात्र में वह जागृत हो कर सम्यक्‌दर्शन को प्राप्त हो। क्रमशः स्व स्वभावरूप मोक्ष को प्राप्त हो। किसी विनाशी, अशुद्ध और अन्य ऐसे भाव में जीव को हर्ष, शोक, संयोग उत्पन्न न हो। इस विचार से स्वस्वरूप में ही शुद्धता, सम्पूर्णता, अविनाशता, अत्यंत आनंदता अंतर रहित उसके अनुभव में आते हैं। सर्व विभावपर्याय में मात्र स्वयं को अध्यास से एकता हुई है, उससे केवल अपनी भिन्नता ही है, ऐसा स्पष्ट, प्रत्यक्ष, अत्यंत प्रत्यक्ष, अपरोक्ष उसे अनुभव होता है। विनाशी अथवा अन्य पदार्थ के संयोग में उसे इष्ट-अनिष्टता प्राप्त नहीं होती। जन्म, जरा, मरण, रोगादि बाधारहित सम्पूर्ण माहात्म्य का स्थानरूप निजस्वरूप जानकर वेदनकर वह कृतार्थ होता है।

अनादि काल से मिथ्यात्वरूप स्वप्नदशा से, जीव में पर (देह) को खुद माननेरूप अहंभाव हुआ है। मैं देह, चाचा, मामा, बनिया, ब्राह्मण, जैन, स्त्री, पुरुष आदि अनेकरूप में खुदको मानता है, परन्तु स्वयं तो देह के धर्म से भिन्न ज्ञानदर्शनसुखस्वरूप, अजर, अमर, अविनाशी हैं। स्वयं

को देहरूप मान कर पर वस्तुओं में मेरा-तेरा मान रहा है। ऐसे अज्ञान को दूर करने के लिए ज्ञानी पुरुषों ने ये छः पद का उपदेश प्रकाशा है। सारा संसार देखो तो पर को अपना माननेरूप अहंभाव और पर वस्तु के ममत्वभाव में पड़ा है। इस प्रकार के अनादि काल के मोह, मिथ्यात्व को दूर करने के लिए ज्ञानीपुरुषों ने छः पद समझाए हैं। पर में अपने को माननेरूप स्वप्नदशा से जीव वापिस आ कर यदि अपना स्वरूप विचारे; पर के बदले अपने स्वरूप में परिणमन करें तो तुरन्त ही आत्मभान में आ कर सम्यक्दर्शन को प्राप्त हो। सम्यक्त्व होने से कर्म का क्षय करते हुए अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को, मोक्ष को प्राप्त करें। अपना स्वरूप पर से अलग जानने के बाद पर पदार्थ के निमित्त उसे हर्ष, शोक, संयोग, एकता न हो। देहादि पर पदार्थ विनाशी, अशुद्ध और आत्मा से भिन्न हैं, उसे स्व स्वरूप न मानें। अपना स्वरूप तो उससे भिन्न शुद्ध है, सम्पूर्ण है। उसे किसी की जरुरत नहीं। वह अविनाशी है, परमानंदरूप है। वह जीव को मिथ्यात्व दशा की सात प्रकृतिरूप अंतरपट को भेदने से प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। फिर उसे अपनी भूल समझ में आती है कि आत्मा सिवा अन्यत्र जहाँ एकता की थी वह अध्यास(भ्रान्ति) से भूल हो गई थी। अधि+आस्, जिस स्थान पर बैठे वह अपनी जगह अथवा उस रूप मैं हूँ - ऐसा हो जाता है, उसी तरह अनादि काल से देह में बसने से देह को ही आत्मा माना अथवा रागादि विभावों को आत्मा माना है। अभ्यास की अपेक्षा अध्यास अधिक दृढ़ता बताता है। अभ्यास तो कदाचित् भूल भी सकें, पर अध्यास तो नींद में भी नहीं भूलता। जब आत्मा का साक्षात्कार हो और आनन्द का अनुभव हो तब आत्मा को सर्व विभाव पर्यायों से सर्वथा भिन्न जानता है, तब दोनों में एकता करने की भूल नहीं करता। मानों दोनों के बीच वज्र की दीवार हो उसी तरह चेतन को जड़ से भिन्न मानता है। स्पष्ट, प्रत्यक्ष, अत्यन्त प्रत्यक्ष, अपरोक्ष वे एक एक से अधिक विशेष शुद्धता का सूचन करते हैं। अपरोक्ष में तो निर्विकल्प समाधि है। वहाँ कोई भी विकल्प नहीं रहता। समकित, उपयोग की सम्पूर्ण स्थिरतारूप में होता है। जब उपयोग आत्मा

में न रहे और लब्धिरूप सम्यक्त्व हो तब भी आत्मा से पर पदार्थों में इष्टता-अनिष्टता से एकाकारता नहीं होती, क्योंकि जन्म, जरा, मरण, रोग आदि दुःख से रहित, आत्मा का शुद्धस्वरूप प्राप्त हुआ है, जिसके सुख के आगे सर्व वस्तुएँ तुच्छ लगती हैं। जिसके बिना अनादि काल से भटका और जिसके प्राप्त होने से अब अनन्त काल तक रहना है, उस आत्मा की अनन्त समृद्धि प्राप्त की, अतः कृतार्थता लगती है कि मुझे जो करना था वह कर सका। मनुष्य जन्म में प्राप्त करने योग्य एक सम्यक्त्व है, वह कर लिया।

जिन जिन पुरुषों को ये छः पदोंसे सप्रमाण ऐसे परम पुरुष के वचनों से आत्मा का निश्चय हुआ है, वे सब पुरुष स्वस्वरूप को पाएँ हैं, आधि, व्याधि, उपाधि और सर्व संग से रहित हुए हैं, होते हैं, और भावि काल में भी वैसे ही होंगे।

ये छः पद जिन्हें अनुभव से सिद्ध हुए हैं, ऐसे परमपुरुष के वचन सुन कर जिन्हों ने आत्मा का निश्चय किया और पुरुषार्थ कर के अपनी आत्मा का साक्षात्कार किया, वे पुरुष संसार का संग और आधि, व्याधि, उपाधि से मुक्त हुए हैं, होते हैं, और होंगें।

जिन सत्पुरुषों ने जन्म, जरा, मरण का नाश करनेवाला, स्वस्वरूप में सहज अवस्थान होने का उपदेश दिया हैं, उन सब को अत्यंत भक्ति से नमस्कार है। उनकी निष्कारण करुणा की नित्य प्रति निरंतर स्तुति करने से भी आत्मस्वभाव प्रगट होता है। उन के चरणारविन्द सदैव हृदय में स्थापित रहे !

अब सत्पुरुषों का उपकार कहते हैं, उन्हों ने आत्मस्वरूप में सहज स्थिति करने का उपदेश दिया। इसी तरह आचरण करने से जन्म-जरा मरण आदि का नाश हो। अनन्त दुःखरूप इस संसार में से अनन्त सुखरूप मोक्ष प्राप्त कराने बोधरूप महान उपकार सत्पुरुष ने किया है। उसमें उनको बदले की अपेक्षा नहीं रखी। उनका तो सर्व कार्य सम्पूर्ण हुआ है इसलिए उनको बदले में कुछ दें ऐसा कुछ भी अपने पास नहीं है। सर्व जीवों के प्रति उनकी निष्कारण करुणा है। उनका अपने ऊपर कितना उपकार है,

यह विचार करने से भी सत्पुरुष पर परम प्रीति प्रगट हो और उनके उपकार को निरन्तर याद करते हुए उनके गुणगान करने से कर्म दुर होते हैं आत्मस्वभाव-समकित प्रगट होता है। ऐसे सत्पुरुषों के चरणारविन्द अर्थात् १. पैर, २. आचरण ३. वचन (कविता के भाग को चरण या पद कहते हैं), सदैव हृदय में बहुमानपूर्वक पूज्य भाव से स्थिर रखो। उस पद का कृपालुदेव ने वर्णन किया है:-

'सुखधाम अनन्त सुसंत चही, दिन रात्र रहे तद्ध्यान महीं;
परशान्ति अनंत सुधामय जे, प्रणमुं पद ते वर ते जय ते।'

अनन्त सुख के धाम, आत्मस्वरूप को संत निरन्तर चाहते हैं और रात दिन उसी के ध्यान में रहते हैं। वे परम शान्त अनन्त सुखमय दशा का अनुभव करते हैं, ऐसे सत्पुरुष के पद को, दशा को मैं नमस्कार करता हूँ।

परम सुखस्वरूप, परमोत्कृष्ट शान्त, शुद्ध-चैतन्यस्वरूप समाधि को सर्व काल में पाने वाले भगवन्त को नमस्कार। उस पद में निरन्तर लक्ष्यरूप प्रवाह वाले सत्पुरुषों को नमस्कार।

छः पद से सिद्ध ऐसा आत्मस्वरूप, जिन के वचनों को अंगीकार करने पर सहज में प्रगट होता है, जिस आत्मस्वरूप के प्रगट होने से सर्व काल जीव सम्पूर्ण आनन्द को पाकर निर्भय होता है, उन वचनों के कहने वाले सत्पुरुष के गुणों की व्याख्या करना अशक्य है, क्योंकि जिन का प्रत्युपकार न हो सके ऐसे परमात्मभाव मानों कुछ भी इच्छा किये बिना मात्र निष्कारण करुणाशीलता से दिया, तथापि जिन्हें अन्य जीव को, यह मेरा शिष्य है, यह मेरी भक्ति करनेवाला है, इसलिये मेरा है, इस प्रकार कभी नहीं देखा, ऐसे सत्पुरुष को अत्यन्त भक्ति से बारंबार नमस्कार हो!

इन छः पद से आत्मस्वरूप सिद्ध हुआ। सत्पुरुष के वचन अंगीकार करने से वह सहज में प्रगट होता है। सत्पुरुष का योग बल, मन-वचन-काया का बल सम्पूर्ण जगत को और विशेषरूप से भव्य जीवों को परम हितकारी है। आत्मस्वरूप की प्राप्ति के बाद इहलोक, पर लोक, मरण आदि सात भय और अन्य सभी भय देहाश्रित होने से नाश होते हैं। उससे

आत्मा निर्भय होती है और सर्व काल अनंत आत्म सुख को पाने वाली बनती हैं, जिनके वचनबल से सर्व भय नाश हो और सदा के लिए आत्मा संपूर्ण आनंद प्राप्त करने वाली बनती हैं, उन वचनों को कहने वाले सत्पुरुष का उपकार वाणी से नहीं कहा जा सकता। सत्पुरुष के वचन अंगीकार हों, दृढ़रूप से परिणमन हों, वहाँ छः पदों से सिद्ध आत्मस्वरूप प्रगट होता है। समकित हुआ, स्वयं को परमात्मरूप ही जाना। अतः अब वाह्य संयोग व्याधि आदि दुःखी नहीं कर सकते, क्योंकि वे तो देह में होते हैं। आत्मा तो सदा देह से भिन्न आनन्दस्वरूप है, ऐसा अनुभव होनेसे भविष्य का कोई भय नहीं रहता। जीव ने सदा निर्भय, आनंदस्वरूप को पाया। मात्र सत्पुरुष के वचनों से यह स्थिति प्राप्त हुई ! उस सत्पुरुष का स्वरूप शब्दों से वर्णन करना अशक्य है। वे मात्र करुणा भाव से उपदेश करते हैं, न कि किसी बदले की इच्छा से। उनकें वचनों से समकित हुआ, अतः साक्षात् उन्होंने आत्मा दिया। प्रथम देह अर्थात् मुर्दारूप स्वयं को मानता था। देह के आधीन भोगों में रक्त हो कर संसार बढ़ाता था। ऐसी अज्ञान दशा में से करुणा सभर सत्पुरुष ने वचनों द्वारा जागृत किया और 'आत्मा हूँ।' यह ज्ञान कराया अर्थात् मुर्दे में से जीवित किया। उसका बदला किसी तरह नहीं दिया जा सकता और सत्पुरुष सर्वथा निःस्पृही हैं। उन्हें उपदेश देने में किसी के प्रति शिष्य बुद्धि या ममत्व बुद्धि नहीं होती; ऐसा विचार भी उन्हें नहीं आता कि यह मुझे उपयोगी है। मेरी सेवा करेगा। वे सिर्फ निष्कारण करुणा से बोध करते हैं। ऐसे सत्पुरुष को अत्यन्त भक्ति से नमस्कार है।

सत्पुरुषों ने सद्गुरु की जिस भक्ति का निरूपण किया है, वह भक्ति सिर्फ शिष्य के कल्याण के लिए कही है। जिसको प्राप्त करने से सद्गुरु की आत्मा की चेष्टा में वृत्ति रहे, अपूर्व गुण दृष्टिगोचर होकर अन्य स्वच्छंद मिटे, और सहज में आत्मबोध हो, इस आशय से जो भक्ति का निरूपण किया है। उस भक्ति को और उन सत्पुरुषों को बारंबार त्रिकाल नमस्कार हो !

सत्पुरुषों ने सद्गुरु की जो भक्ति निरूपण की है वह भक्ति सिर्फ शिष्य के कल्याण के लिए कहीं है। प्रभुश्रीजी कहते कि हम गुरु बता देगें परन्तु गुरु बनेगें नहीं। फिर भी माने नहि और गुरु बताने-वाले को गुरु मानें, गुरु बनना बड़ी जोखमदारी है और गुरु बतानेवाले की भी जवाबदारी है। सन्मार्ग बतावें वह सद्गुरु हैं और उन्मार्ग बतावें वह कुगुरु है। कुगुरु बननेवाला या बताने वाला बड़े पाप का भागीदार है। सत्पुरुष ने सद्गुरु की भक्ति बताई, वह आत्मा के परम हित का कारण है, अतः उसे थोड़ी देर भी छोड़ता नहीं। सारा दिन और सारी रात भक्ति करता है। उसमें सत्पुरुष के कहे अनुसार चलने का लक्ष्य रहता है। क्योंकि कुछ भी करते हुए सत्पुरुष का लक्ष्य आत्मा के प्रति ही होता है। "निराबाधरूप से जिस की मनोवृत्ति बहती रहती है, संकल्प-विकल्प की मंदता जिस की हुई है, पंच विषय से विरक्त बुद्धि के अंकुर जिसे फूटे हैं, क्लेश के कारण जिसने निर्मूल कर दिए हैं (कैसे भी प्रसंग में बूरा न मानने की समझ दृढ़ की है); अनेकान्तदृष्टियुक्त एकांतदृष्टि का जो सेवन करते हैं, जिस की मात्र एक शुद्ध वृत्ति ही है, वे प्रतापी पुरुष जयवन्त रहे। हमें वैसा बनने का प्रयत्न करना चाहिए।" (श्री.रा.प.-८०) सत्पुरुष अपना उपयोग आत्मा के प्रति ही रखते हैं, 'देह से भिन्न आत्मा हूँ' यह भूलते नहीं। वे अपनी तरह देह में एकाकार नहीं होते। निरन्तर भेदज्ञान है। ऐसी उनकी आत्मा की चेष्टा में प्रेम-भक्ति होने पर उसी को ही याद करें, उसी की इच्छा, उसी का ध्यान करें तो अपने में भी अपूर्व गुण अर्थात् समकित-आत्मा का अनुभव दृष्टिगोचर हो और उसका अद्भुत आनन्द समझने के बाद जीव दूसरे सर्व स्वच्छंद से वापिस मुड़ता है, और आत्मसुख पाने के प्रयत्न में पर वृत्ति को रोककर आत्मा में लीन होता है। आत्मा में आत्मा के अनुभव की लय लगें तो फिर स्वच्छंद से अविचारी वर्तन स्वयमेव छूट जाएँ। सत्पुरुष की भक्ति से सत्पुरुष की आज्ञा में रहे। प्रत्येक कार्य में सत्पुरुष कैसे रहते हैं? मैं किस तरह से रहूँ तो उनको रुचे? ऐसा विचार कर आत्मा की परिणति उस अनुसार करें तो स्वच्छंद रुके। सत्पुरुष को तो आत्मा में रहना ही प्रिय है,

यह समझ आने से सहज में आत्म बोध हो। भक्ति से आत्मानुभव में सहज ही स्थिति होती है। अतः सत्पुरुष की भक्ति शिष्य को परम उपकारी है। इसमें सत्पुरुष को स्वार्थ नहीं, परंतु भक्त को कल्याणकारी और मोक्षदा है।

सत्पुरुष को नमस्कार प्रथम उनके उपकार का विचार करने के बाद किया और फिर वह अपूर्व उपकार किसी भी बदले की इच्छा बिना किया, वह विचारको नमस्कार कहा। बाद में सत्पुरुषों ने मोक्ष को देने वाली सद्‌गुरु की भक्ति दी, अतः उपकार माना और अन्त में आत्मा का अद्‌भुत केवलज्ञान स्वरूप जिसके योग से प्राप्त होना है, उसका अति उल्लास भाव से सत्पुरुप को नमस्कार किया, वह उत्तम कलशरूप है।

यद्यपि वर्तमानकालमें प्रगटरूपसे केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हुई, परन्तु जिसके वचनके विचारयोग से शक्तिरूपसे केवलज्ञान है, यह स्पष्ट जाना है, श्रद्धारूपसे केवलज्ञान हुआ है, विचारदशासे केवलज्ञान हुआ है, इच्छादशासे केवलज्ञान हुआ है, मुख्य नयके हेतुसे केवलज्ञान रहता है, जिसके योगसे जीव सर्व अव्याबाध सुखके प्रगट करनेवाले उस केवलज्ञान को सहजमात्र में प्राप्त करने योग्य हुआ, उस सत्पुरुष के उपकार को सर्वोत्कृष्ट भक्ति से नमस्कार हो ! नमस्कार हो !

यद्यपि अभी आत्मा में केवलज्ञान व्यक्तिरूप में प्रगट नहीं हुआ, तथापि श्रुतकेवली जैसे श्रुत द्वारा केवली जितना ही सब जान सकता है, **उसी तरह सत्पुरुष के वचनरूप श्रुत के विचार से 'मेरी आत्मा में केवलज्ञान शक्तिरूप में है' यह स्पष्ट पता लगता है।** समकित होने से श्रद्धा शुद्धस्वरूप की ही है, वहाँ केवलज्ञान अंशरूप में प्रगट हुआ है। 'सर्व गुणांश सम्यकत्व' = आत्मा का समकित गुण प्रगट हुआ वह गुण आत्मा के अनंत गुणोंका एक समान प्रकाशक है, अतः उसके प्रगट होनेसे अंशमें सब गुण प्रगट हुए हैं उससे श्रद्धारूप केवलज्ञान भी हुआ है। शुद्धस्वरूप का अनुभव होने के बाद उसी का विचार आया करता है। किसी वस्तु की तीव्र इच्छा हो, वह मिले तो जीव को उसी के विचार आते रहते हैं। उसे लक्ष्य में रख कर सब प्रवृत्ति होती है। उसी तरह यहाँ

केवलज्ञान की प्राप्ति श्रद्धा से हुई तो अब वही स्वरूप का विचार करता है। इच्छा भी सतत उसी की रहे। सम्यक्त्वी को संसार की कुछ भी इच्छा नहीं होती। एक शुद्धात्मा का विचार और उसी की इच्छा रहती है। शुद्ध निश्चयनय से तो सर्व आत्मा में केवलज्ञान है। इस तरह अलग अलग रीति से केवलज्ञान की भावना होने से परिणामतः सर्व दुःखों का अन्त हो कर आत्मा को अनन्त अविनाशी शाश्वत सुख प्राप्त होता है, वह जिस सत्पुरुष के वचनों से जीव पल भर में पाने लायक बना, जिस सत्पुरुष के वचन बल से समकित हो कर केवलज्ञान को पाने योग्य जीव बना, ऐसे परम पूज्य सत्पुरुष के अनुपम उपकार को सर्वोत्कृष्ट भक्ति से बारंबार नमस्कार हो! नमस्कार हो!

श्री.रा.प.-५०५ (१२५) बो.भा.-२ : पृ.-१७१

वीतराग के मार्ग की श्रद्धा करनी है। राग-द्वेष-मोह आदि छूटें तब वीतराग बने। भगवान की आज्ञा का आराधन होगा तब छूटें। क्रोध, मान, माया, लोभ से जीव को रहित करें वह वीतराग मार्ग है। परम शांति का रस जीव को आना चाहिए। समभाव, शांत रस है। उपशमता, वीतरागता इस काल में दुर्लभ हैं। सुखी बनना हो तो वीतराग मार्ग का सेवन करो। छूटने का उपाय वीतराग मार्ग बिना जाना नहीं जा सकता। समझ आना कठिन है। योग्यता आएँ तो समझे। जीव की योग्यता हो और सत्पुरुष का योग हो तो सच्ची समझ आती है। कभी जीव की योग्यता होती है, तो सत्पुरुष का योग नहीं मिलता और कभी सत्पुरुष मिलते हैं, तो जीव की योग्यता नहीं होती। इस तरह अनन्त काल से होता आया है। इसलिए अनन्त काल से जन्ममरण चालू है। ये दोनों योग एकसाथ न मिलने से परिभ्रमण हुआ है। ये दोनों न मिले तब तक सम्पूर्ण हित नहीं होगा। दोनों योग मिलें तब छुटकारा होता है। त्याग-वैराग्य चाहिए। ज्ञानीपुरुष संसार को रोगरूप जानते हैं। दूसरे रोग तो मिट जाएँ, ज्यादा रहें तो आयु तक रहें परंतु यह संसार रोग तो अनादि से अनन्त काल होने पर भी मिटा नहीं। संसाररूपी रोग मुझे लगा हुआ है, ऐसा दुःख लगेगा तब सत्पुरुष की

खोज करेगा। अन्दर से संसार दुःखरूप लगें तब ज्ञानी का कहा मान्य होता है। संसार से रुचि बदलनी है।

अब तो मोक्ष के लिए ही जिना है। मोक्ष का मार्ग ही परम तत्त्व है। उसका मुझे सदा निश्चय रहो। निश्चय ही समकित है। यह यथार्थ स्वरूप मेरे हृदय में प्रकाश करें। यही परम धर्म है, यही मानना, यही करना। इसी की भावना करना है, इस भावनासे अपूर्व फल मिलेगा। भावना भव की नाशक है, ऐसी भावना करो कि जन्म मरण छूट जाएँ। माया आदि भाव छूट जाएँ, तो मोक्ष हो। भावना भी सच्ची रीति से होनी चाहिए। तभी काम होगा। जन्म-मरण बंधन लगें तो छूटना शुरु हो।

इस जीव को बंधन नहीं लगता। अनन्त काल से जो भी करता आ रहा है, उसका फल क्लेश आया है। ऐसे रास्ते तूँ न जा, यों ज्ञानी पुकार कर कहते हैं। विचार आएँ तो समझ पड़े कि यह रास्ता दुःख का है। सब ज्ञानीपुरुषों ने इस संसार को असार कहा है। जिसे ज्ञानी पर श्रद्धा है, उसे संसार क्लेशरूप लगता है। प्रमाद, बड़ा शत्रु है। प्रमाद छोड़के जागृत हो। ज्ञान दशा आने के बाद भी जागृत रहना है। चार ज्ञान के धारक गौतम जैसे ज्ञानीपुरुष को भी भगवान महावीर बोध देते थे कि 'समयं गोयम मा पमाए।' हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद न कर। जीव को अनादि से भटकानेवाली विपर्यासिता है। विपर्यास बुद्धि मिटें तो परिभ्रमण मिटें। सजगता की जरूरत है। मोह के कारण जीव अग्यारहवें से गिरता है। जीव को मोक्ष होने तक अनन्त भय हैं। संसार तो अनेक विघ्नों से भरा है। मरीचि, भगवान महावीर का जीव, एक विरोधी शब्द बोला, तो कितने भव करने पड़े ! अतः तीर्थंकर देव कहते हैं कि प्रारब्ध का जब उदय हो तब ज्यादा सावधान रहना, वर्ना न जाने कैसे कर्म बंध हो जाएँ? ज्ञानी कहते हैं कि यदि तुझे मार्ग समझ आ गया है तो अब प्रमाद न कर। मनुष्यभव दुर्लभ है, शायद मिलता है। तुझे ऐसे मनुष्यभव अनन्ती बार मिला तथापि कुछ भी सफलता न हुई। अतः ज्ञानी कहते हैं, हे जीव ! मोह में से जागृत हो, जागृत हो। मनुष्यभव की एक क्षण भी रत्न चिंतामणि सम है।

मनुष्यभव में मोह का क्षय किया जा सकता है। मोह को क्षय करना हों तो कर सकते हैं, यह ज्ञानियों की आज्ञा है। जो आज्ञा मिली हो तो पालन करना चाहिए। धर्म की आराधना बिना रुचि पलटती नहीं। कैसे भी कर के मुझे ज्ञानी की आज्ञा मिले, ऐसी भावना रखो। ज्ञानी की आज्ञा से ही मोक्ष है, यों जीव को दृढ़ होना चाहिए। आज्ञा की महत्ता लगे तो स्वच्छंद आदि दोष जाएँ। आज्ञा ही धर्म है।

श्री.रा.प.-५०६ (१२६) बो.भा.-२ : पृ.-१७२

प्रश्नः- निर्भय कौन कहलाएँ?

पूज्यश्रीः- जिसने चार घाति कर्म का नाश किया हैं, वह निर्भय है। ग्यारहवें तक भय है। चौथे, पाँचवें, छठ्ठे सब गुणठाणा में सावधान रहना हैं। मोहनीय कर्म के क्षय बाद भय नहीं। पहले से ग्यारहवें तक भय है। मोह कितना बढ़ जाएगा, कुछ कहा नहीं जा सकता। प्रमाद में जीव पड़ा तो चौदह पूर्व पढ़ा हो पर समकित न हुआ, तो फिर अनन्त काल तक भटकना पड़ेगा।

प्रश्नः- चौदह पूर्वधारी का भी पतन क्यों?

पूज्यश्री :- मोह के कारण पतन है। अभ्यास अलग वस्तु है और मोह अलग है। सम्यक्‌दर्शन न होने से पतन है। सम्यक्‌दर्शन हो तो सावधानी रहती है। इसके बिना सब निष्फल है। सबका आधार रुचि है। अकेला ज्ञान कोई बचाता नहीं। साथ में मोह की भी मंदता चाहिए। संसार से भय होना चाहिए। संसार का मूल, मोह है। मोह है वहाँ संसार है। संसार दुःखरूप नहि लगता। भाव बदलना है। ज्ञानी के वचन अनुसार चलें तो भाव बदलें।

धर्म का मूल श्रद्धा है। ज्ञानीपुरुष ने कहा वही मोक्ष का मार्ग है। श्रद्धा कहाँ करनी वह समज़ नहीं है। अंधा और अनजान दोनों बराबर है। अज्ञान दशामें पता नहीं लगता। सदाचार और त्याग-वैराग्य का सेवन करना। पुण्य के योग से सद्‌गुरु मिलेगें, पुण्य चाहिए। सद्‌गुरु के योग से

शान्ति होती है। जब तक आत्मा जागृत ना हो तब तक सर्वत्र भय है। सद्‌गुरु को पहचानने में भूल आई तो सब में भूल आऐगी। धर्म सद्‌गुरु से शुरु होता है। इसलिए कहा है, 'दूसरा कुछ मत खोज। मात्र एक सत्पुरुष को खोजकर उसके चरण कमल में सर्वभाव अर्पण करके आज्ञा आराध।' (श्री.रा.प-७६) ज्यों ज्यों मुमुक्षुता आएंगी, त्यों त्यों मार्ग समझ में आएगा। छूटने की भावना मंद पड़ने न दें। गुरु की पहचान करन में अन्तर वैराग्य की जरूरत है, वैराग्य होगा तो पहचान होगी। मुमुक्षुता बढ़नेसे पहेचान होती है, मुमुक्षु वह है जो मोह करनेसे डरता है। पुण्य और त्याग-वैराग्य की प्राप्ति हो तो सत्पुरुष की पहचान हो, जीव अनादि काल से मोह में पड़ा है। बहुत खाया, बहुत पिया, अब छूटना है। यह भाव आएँ तो छूटे। जब तक मोह है, तब तक सत्पुरुष की पहचान नहीं होती। जिसे आत्मज्ञान हो गया है, उसे भी सावधान रहने को ज्ञानीने कहा है। तो फिर जिसे मार्गानुसारीता भी नहीं, उसे तो कितनी जागृति की जरूरत हैं। विशेष भय रखने कि आवश्यकता है। वैराग्य न हो, उसे ज्ञानीपुरुष चाहे कितना भी, कुछ भी कहें, अच्छा नहीं लगता। उसे तो मोह की बातें ही अच्छी लगती हैं। 'समयं गोयम मा पमाए।' यह वाक्य जीवने अनेकों बार पढ़ा, अनेकों बार सुना पर यह मेरे लिए ही कहा है, ऐसा नहीं लगता। यह तो गौतमस्वामी को कहा है, अपने को नहीं। ज्यों ज्यों उपदेश की सफलता लगेगी, त्यों त्यों उपदेश परिणाम पाएगा। कृपालुदेव मुझे ही कहते हैं इस तरह सोच, समजकर विचार करना। 'आत्मा नित्य है।' ऐसा कह कर भी जीव भयभीत रहता है। इसका कारण उपदेश बोध हुआ नहीं। अथवा सुना तो ग्रहण नहीं किया जिससे सिद्धांत परिणाम न पाया। बोध दो प्रकार से हैं:- उपदेश बोध, सिद्धांत बोध। त्याग-वैराग्य की भूमिका आएँ तब सिद्धान्त बोध परिणमे। उपदेश बोध शुरुआत की भूमिका है। उपदेश बोध में त्याग-वैराग्यं का उपदेश होता है। इससे पुरुषार्थ वर्धमान होता है। 'आत्मसिद्धि' सिद्धान्त बोध है। 'आत्मसिद्धि' रोज बोलने पर भी योग्यता न हो तो नहीं परिणमे। षट् दर्शन के साररूप ज्ञानी पुरुष के वचन हैं। जो

तीनों काल में बदले नहीं वह सिद्धांत बोध है। जितना त्याग-वैराग्य होगा, उतना समझ आएगा और समकित होगा। मिथ्यात्व अनादि काल से जीव को उल्टा समझाता है। विपरीत बुद्धि उपदेश बोध बिना जाती नहीं। अतः ज्ञानीपुरुष के कहने का आशय लक्ष्य में नहीं आता। जीव कर्मों से घेरा हुआ है। जिसे मोक्ष जाने की भावना है, वह पाँच इन्द्रियों के विषयों में लिप्त नहीं होता। अपना मूलस्वरूप विचार कर प्राप्त कर लेना है। जैसा है, वैसा समझ लेना है। जीव मोह का गुलाम होने से मोह में लुब्ध रहता है। तुच्छ वस्तु में आनन्द माने, तो सच्ची वस्तु हाथ में नहीं आती। यह विपरीतता मिटाने का उपाय त्याग, वैराग्य और उपशम है। जीव की योग्यता बढ़े, संसार दुःखरूप लगे, इसके लिए उपदेश बोध है। इसके बिना जीव आगे नहीं आ सकता। पात्रता बिना समझ नहीं आती। 'पात्र थवा सेवो सदा ब्रह्मचर्य मतिमान।' विचार ही नहीं आता। सच्चे स्वरूप का विचार नहीं आता। त्याग-वैराग्य भी साधन है।

उपदेश बोध बिना सिद्धान्त बोध नहीं होता। जीव की बुद्धि संसार में है। संसार में ही अनुकूलता खोजता है। मुख्य तो देहभाव ही आगे रखता है। संसार से थके तो परमार्थ की अपूर्वता लगे। उपदेश बोध से विपर्यास (विपरीत) बुद्धि मंद होती है। जिसे गाढ़ विपर्यास है, उसे तो ज्ञानी क्या कहें? वैराग्य-उपशम चाहिए। वह होगा तो ही छूटने की भावना होगी। विपर्यास बुद्धि गए बिना स्पष्ट स्वरूप समझ में नहीं आता। 'मैं और मेरा' करता रहता है। यह ही मोह है। वैराग्य उपशम से विपर्यास बुद्धि कम हो।

जिसे वैराग्य हो, उसे परिग्रह बढाने का मन नहीं होता। जिसे उपशम हो, उसे कषाय भाव नहीं होता। वैराग्य-उपशम हो तो विपर्यास बुद्धि दूर हो कर सद्बुद्धि आती हैं। अहंभाव, ममत्वभाव जाएँ तो उपशम आएँ, फिर कषाय मन्द पड़ें। सत्ता में कषाय रहें पर काम न करें। उपशम समकित भी क्षायिक जैसा है। दो घड़ी रहता है पर क्षायिक जैसा ही निर्मल है। उपशमभाव अर्थात् कषाय रहित भाव लाना है। जो कषाय पर जय पाएगा, उसका कल्याण होगा।

"कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष;
भवे खेद प्राणीदया, त्यां आत्मार्थ निवास।" ३८ आ.सि.
"आवे ज्यां एवी दशा, सद्गुरुबोध सुहाय;
ते बोधे सुविचारणा, त्यां प्रगटे सुखदाय।" ४० आ.सि.
"ज्यां प्रगटे सुविचारणा, त्यां प्रगटे निज ज्ञान;
जे ज्ञाने क्षय मोह थई, पामे पद निर्वाण।" ४१ आ.सि.

आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं। 'आत्माथी सौ हीन।' आत्मा की पहचान हो तो सफलता है। सद्विचारणा से चेतन और जड़ को जान कर निर्णय करना। मोह, मुख्य कर्म है। वह जाएँ तो केवलज्ञान हो।

जब मोह विशेष मंद पड़े तब समकित हो। ज्यों ज्यों वैराग्य उपशम बढ़ेगा, मोह मंद होता जाएगा, सुविचारणा होगी। परिग्रह, पाप है। जितना परिग्रह ज्यादा उतना पाप ज्यादा। सत्पुरुष के योग से थोड़ा वैराग्य-उपशम हुआ हो, जो फिर से आरम्भ-परिग्रह में पड़े तो सब चला जाएँ। आरम्भ-परिग्रह, वैराग्य उपशम के काल हैं। वैराग्य-उपशम बढ़ाने के लिए आरम्भ-परिग्रह की निवृत्ति करना। समझ बदलो तो सब बदल जाएँ।

आरंभ-परिग्रह साँप जैसा है। यह हो तो वैराग्य-उपशम कब नाश हो जाएँ, कुछ कहा नहीं जा सकता। चाहे परिग्रह थोड़ा हो, किन्तु 'मेरा है' ऐसा हुआ तो आगे चिन्ता खड़ी हो गई। इसी का नाम मिथ्यात्व है। आत्मा के ज्ञान धन को भूलकर दूसरा धन लेने जाते, आवरण आता है। जब तक आरंभ-परिग्रह हो, तब तक केवलज्ञान न हो।

केवलज्ञान न हो तब तक कहीं की कहीं वृत्ति जाती रहती हैं। आरंभ-परिग्रह शत्रु है। ज्ञानी इस जहर को जहर कहते हैं। लेकीन जीवको यकीन नहीं आता। बहुत काल से जीव ने असत्संग का सेवन किया है, इससे आरंभ-परिग्रह से वृत्ति उठती नहीं। जीव को अपनी वृत्ति ठगती है। सच्चा पुरुषार्थ तो यह है कि अनंत काल से जो जाना है, वह भूल जाएँ। इस काल में 'भक्ति और सत्संग विदेश गए हैं।' (श्री.रा.प-१७६) वैराग्य और उपशम की जीव को किंमत नहीं है।

श्री.रा.प.-५०९ (१२७) बो.भा.-२ : पृ.-१७६

काया और आत्मा दोनों अलग पदार्थ हैं। जो पदार्थ जुदा हो वह जुदा हो सकता है। जैसे गर्म करने से दूध और पानी अलग होते हैं, वैसे जीव और काया क्रिया करने से अलग होते हैं। देह, कर्म का फल है। जिसने जीव न जाना हो वह भी क्रिया होते देख कर "जीव है" यों कहता है। ज्ञान हो तब स्पष्ट जुदा लगता है।

प्रश्नः- "दोनों पदार्थ अलग हैं तो इसे वेदना किससे होती है?"

पूज्यश्रीः- सूर्य का ताप लगने से जैसे पत्थर गर्म हो जाता है और सूर्यास्त बाद भी थोड़ी देर तक गर्म रहता है, वैसे अज्ञानरूपी सूर्य से तप्त हुए जीव को वेदना रहती है जब तक देह है। पर आत्मज्ञान होने से भेद होता है। ज्ञानी पुरुष को देहाध्यास छूटा है, अतः फिर से वेदना उत्पन्न होने वाले कर्म नहीं बांधते। देह से आत्मा को भिन्न जानना नहीं भूलते।

'शारीरिक वेदना को देह का धर्म मान कर और बाँधे हुए कर्मों का फल जान कर सम्यक् प्रकार से सहन करना योग्य है।' (श्री.रा.प-४६०) ऐसा वे जानते हैं। वेदना सहते हुए विषम भाव न होना, ज्ञान का फल है। वेदना आत्म गुणों की घातक नहीं है। जिसे स्वरूपज्ञान हुआ है, उसे देह और आत्मा भिन्न लगते हैं। जो ज्ञान वेदना से चला जाता है, वह ज्ञान ही नहीं। ज्ञानीपुरुष को यों नहीं होता कि मुझे वेदना हुई हैं। वह जानता है कि वेदना तो देह को हुई हैं। यह देह का धर्म है। वेदना आत्मा को हानिकारक नहीं है। ज्ञानीपुरुषों को ज्ञान होने से विषम भाव नहीं होता, क्योंकि वे वस्तु स्वभाव को जानते हैं। जीव देहाध्यास के कारण मानता है कि मुझे वेदना हुई है। वेदनीय कर्म ज्ञान को आवरण नहीं करता। मोहनीय के कारण सब होता है। साता-असाता मोह से ही लगता है। अतः ज्ञानियों ने पहले मोहनीय का नाश करने को कहा है। साता हो तो अच्छा, असाता हो तो खराब, ऐसा लगे तो यह अज्ञान का ही लक्षण है। दोनों पदार्थ भिन्न समझने बाद यह अच्छा, यह बुरा, ऐसा कुछ नहीं लगता। सब का मूल वैराग्य है। जिसे वैराग्य हो, उसे ही ज्ञान होता है।

श्री.रा.प.-५२२ (१२८) बो.भा.-२ : पृ.-१८६

संसार में भटकने का कारण अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय हैं। ये कषाय जीव को कल्याण करने में बाधकरूप हैं। ज्ञानीपुरुष की पहचान जीव को ज्यों ज्यों होती है, त्यों त्यों अनन्तानुबन्धी मंद पड़ने लगते हैं। वे मंद पड़ें तो सब कषाय मंद पड़ने लगते हैं। ज्ञानीपुरुष की यथार्थ पहचान जिसे हो, उसे संसार में ज्यादा भटकना नहीं पड़ता। संसारी जीव उल्टी समझ के कारण भटक रहे हैं। जीव जब तक मत-मतांतर में हो, तब तक आग्रह रहता है। ज्ञानी की पहचान होने के बाद मताग्रह, दुराग्रहादि भावों की मंदता होती है। दूसरों के दोष देखता था, अब अपने दोष देखने लगता है। मुझे शुद्ध होना है, यही भावना होती है। ज्ञानी का योग होने से ही धर्म की शुरुआत होती है। अपने दोष देखने की आदत पड़ती है। दूसरों के दोष न देखें पर अपना दोष देखनेसे मुमुक्षुता प्रगट होती है। जीव अपने स्वरूप को भूल कर बाह्य वस्तुओं में लगा रहता है। राज कथा, भुक्त (भोजन) कथा, स्त्री कथा, देश कथा, इन चारों विकथाओं में इसे नीरसता लगती है। विकथा कर्म बंध का कारणरूप लगती है। सत्पुरुष का योग होने के बाद तुच्छ वस्तुओं में मन नहीं रहता। पर अच्छे वांचन विचार में रहता है। मेरा कल्याण कैसे हो? ऐसी भावना जगती है, ज्ञानी के मुख से सुना कि जगत सारा नाशवंत है, सब संयोग जो मिले हैं, उनका वियोग होगा। एक आत्मा ही तीनों काल में रहने वाला है। अब अवसर हाथ में आया है, तो व्यर्थ न गँवाउँ। थोड़े काल में कल्याण करने की भावना करें। सब यहीं पड़ा रहेगा। बारह भावना का विचार करें तो वृत्ति आत्मा में रहे। ज्ञानी का योग होने के बाद त्याग-वैराग्य विशेष वृद्धि पाने लगता है। मोक्ष का मार्ग सच्चा लगने लगता है। सारा वर्तन - व्यवहार पलट जाता है। महान पुण्य से ही सत्पुरुष का योग होता है।

पुरुषार्थ करें तो अपूर्वता जगती है। सब जीव सुख चाहते हैं, पर सच्चे सुख को जानते नहीं। इन्द्रियों के विषय आत्मा को लूटने वाले हैं।

मुझे इनसे छूटना है आत्मा का ही हित करना है। जिसे छूटना है, उसे कोई बाँध नहीं सकता। जहाँ दीपक में बत्ती हो वहाँ दीपक जगे, वैसे ही ज्ञानी का योग हो तो ज्ञान होता है। सत्पुरुष का योग होने के बाद अपूर्वता लगे तो सच्चा रंग चढ़े। सब बदल जाएँ। सत्पुरुष के योग से आत्मज्ञान होना सुलभ है, किंतु प्रेम आना चाहिए। जीव के पास प्रेम की यथार्थ पूंजी है। यह पूंजी इन्द्रियों के विषय में बाँट दी हैं। अतः सच्ची कमाई नहीं होती। सत्पुरुष में खर्चे तो सच्ची कमाई हो। **"पर प्रेम प्रवाह बढ़े प्रभु से"** ज्ञानी तो पुकार पुकार कर कहते हैं कि हे जीव ! तु मोहनिद्रा से जाग। जब तक सत्पुरुष के प्रति, उनके वचनों के प्रति तथा उन वचनों के आशय के प्रति प्रेम न आएँ तब तक आत्म विचार का उदय न हो। अनादि काल से जीव की बाह्य वृत्ति है। अरूपी आत्मा तरफ मुड़नी मुश्किल है। अपने पास ही आत्मा है, उसकी पहचान करनी है। जीव को सत्पुरुष पर विश्वास आएँ तो हो सके।

सत्पुरुष के प्रति जीव को जब प्रेम आएँ तब लगता है कि इतने समय तक सब साधन वृथा किएँ। अतः अब लक्ष्य रख कर आत्मा का काम करना है। विश्वास आने पर सब सरल है। जब तक पर वस्तुओ में प्रेम है, तब तक सच्ची वस्तु पर विश्वास नहीं आता। विश्वास आत्मा का करना है। छःपद का विश्वास दृढ़ करना है। आत्मा है, आत्मा नित्य है, कर्त्ता है, भोक्ता है, मोक्ष है, मोक्ष का उपाय है। इसकी श्रद्धा करने के लिए पुरुषार्थ करेगा तो विश्वास आएगा। जब तक संसार का लक्ष्य है, तब तक संसार है। ज्ञानी के योग से, ज्ञानी की आज्ञानुसार आचरण करें तो इसे ज्ञानी की अपूर्वता लगे। ऐसा योग दो-बारा मिलना मुश्किल है। जितना करोगे, उतना मनुष्यभव सफल होगा। इस भव तक तो कर लेना। देह से मैं भिन्न हूँ, यह लक्ष्य रखना। उसमें मोह का लश्कर लूँट न ले, इसकी सावधानी रखना। कल्याण होने में जीव को बाधक वस्तुएँ कौन सी हैं? १. **अभिमानः**- अहंकार से साधन निष्फल हो जाएँगें। न जानते हुए भी, जानने का जीव अभिमान करता है। २. **लोक भयः**- मैं धर्म करता हूँ परन्तु

लोग मेरे बारे में क्या कहेंगें? ऐसा भय रहता है। ३. कुलधर्म और क्रिया करता हो, उसे कैसे त्यागें? यह परेशानी होती है। ४. ज्ञानीपुरुष के कथनानुसार करने के बदले उन की नकल करता है। ज्ञानीपुरुष पूर्व कर्म के योग से पंच-विषयादि में जो प्रवृत्ति करता हो वह देख कर स्वयं करें। ऐसे ऐसे दोष ही अनन्ताबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ हैं। ज्ञानी की पहचान होने के बाद भी जीव ऐसे दोषों से ठगा जाता है। ये दोष ज्ञानीपुरुष की अपूर्वता समझने नहीं देते। आत्मा का लक्ष्य होने नहीं देते। अनन्तानुबन्धी कषाय अनादि काल से जीव को ठगते आ रहे हैं। जीव की दृष्टि बाह्य होने से ज्ञानी की पहचान नहीं होती। मैं ने जो माना है, वही धर्म है, जीव ऐसा मानता है। दोष ही जीव को बंधनरूप है। ज्ञानी तो छूटते हैं।

जीव मोह में है। जीवको कौन रोकता है? अपने स्वरूप की अज्ञानता। जब तक अपना स्वरूप नहीं जाना, तब तक जीव अन्यत्र भटकता है। आत्मा की अपेक्षा देह की सार सम्भाल ज्यादा लेता है। रात दिन देह के लिए ही खो देता है। आत्मा देह से भिन्न है। देह का मात्र संयोग है। आत्मा असंयोगी है। 'देहादि से भिन्न उपयोगी सदा अविनाश' ऐसा स्वरूप मालूम हो तो ज्ञान हुआ कहलाएँ। ज्ञानी से जाना हो और फिर ज्ञानी का योग न रहे तो उसमें आगम मदद करते हैं। सद्गुरु के उपदेश से आत्मा जान लेना चाहिए। प्रत्यक्ष सद्गुरु योग से स्वच्छंद रुकता है। कल्पना से सारा जग ठगा गया है। इसलिए प्रथम ही कहा कि 'दूसरा कुछ खोज मत, एक सत्पुरुष को खोज कर उसके चरण कमल में सर्वभाव अर्पण कर दें।' (श्री.रा.प-७६) जिसने पाया है, वही प्राप्त कराएगा।

जीव अभिमान से संसार में भूला पड़ा है। शास्त्र में कहा है कि विनय, धर्म का मूल है। अभिमान हो तो ज्ञान नहीं होता। 'देह से मैं भिन्न हूँ' ऐसा हो तो ज्ञान कहलाएँ। 'कर विचार तो पाम'। सद्विचार कर के कषायों को कम करना। विभावभाव छोड़ना है। वस्तु छूट जाती है पर मूर्छा नहीं छूटती। अभिमान छोड़ना कठिन है। कषाय ही संसार है, कर्म बंधन

के कारण हैं, वे पूर्व के संस्कार हैं जो निमित्त मिलते स्फुरायमान हो जाते हैं। अभिमान शत्रु है। इसे निकालना है। अन्तर्लक्ष्य जागे तो काम बने। जगत में जीव घूमता है, वह पूर्व के मोह के संस्कारों के कारण। वस्तु पर से भाव न छूटे तब तक वह वस्तु सारे लोक में जहाँ जहाँ तैयार होती हो, उस संबंधी पाप जीव को लगता रहता है। "मुझे शहद खाना है।" ऐसी भावना रहे तो जहाँ जहाँ शहद तैयार होता हो, वहाँ इसका भाग होता है। आनंदघनजी ने गाया है :- 'जगत जीव हैं कर्माधीना, अचरिज कछु न लीना ;आप स्वभाव में रे, अवधू सदा मगन में रहना।' जगत के जीव सब कर्म के आधीन हैं। जन्म मरण करते हैं। स्वभाव में रहें तो छूट सकते हैं। छूटने का रास्ता लेना है।

"कोटि वर्ष नुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय;
तेम विभाव अनादि नो, ज्ञान थतां दूर थाय।" ११४ आ.सि.

श्री.रा.प.-५८५ (१२९) बो.भा.-२ : पृ.-२४३

पूज्यश्री :- आत्मा की बात जीव को मीठी लगे, उसके दृष्टान्त मीठे लगें तो जानना कि सम्यक्‌दर्शन हुआ है। देवचंद्रजीने कहा है कि सम्यक्‌दृष्टि को आत्मा शब्द सुनते ही रोमांच होता है।

'जेम निर्मलता रे रत्न स्फटिक तणी, तेम ज जीव स्वभाव।'

आत्मा की निर्मलता समझाने के लिए स्फटिक रत्न की उपमा दी है। स्फटिक की आर पार पदार्थ दिखता है, ऐसी इसकी निर्मलता है। अतः यह रत्न है कि नहीं, यह पता नहीं लगता। जीव का ऐसा स्वभाव हैं। स्फटिक रत्न की तरह आत्मा भी दिखती नहीं। आत्मा देह के कारण दिखती है, ऐसा लगता है, परन्तु जो दिखती है वह तो देह है। आत्मा नहीं दिखती। जैसा संयोग मिले वैसी दिखती है। कषाय के कारण यह बिगड़ती है, वर्ना स्फटिक रत्न जैसी है। आत्मा का स्वभाव ज्ञानी ने स्फटिकरत्न की तरह कहा है। भगवान ने आत्मा को निर्मल करके, ऐसा स्वभाव देखा है। 'आत्मा को एक भी अणु का आहार परिणाम से अनन्य भिन्न करके उन्होंने इस देह में स्पष्ट ऐसी अणाहारी आत्मा, मात्र स्वरूप से जीने वाली

देखी हैं।' (श्री.रा.प-४३७) आत्मा को मलिन करने वाली कषाय हैं। उसमें प्रबल कषाय अनन्तानुबन्धी हैं। इस से वस्तु का स्वरूप श्रद्धा में नहीं आता। मिथ्यात्व और अनन्तानुवन्धी साथ ही रहते हैं। इस प्रबल कषाय का अभाव होने से धर्म प्रगट होता है। चारित्रधर्म अर्थात् स्वरूप रमणता प्रगट होती हैं।

सत्पुरुष या सत्संग में जिसे निष्ठा अर्थात् स्थिरता है, वह सत्संग नैष्ठिक है। असंग अर्थात् सहज, कर्म रहित। जीव कर्म के कारण कृत्रिम हो जाता है। मोहनीय कर्म जाएँ तो सहज स्वरूप प्रगट हो। ज्ञानावरणीय जाएँ तो सहज ज्ञानस्वरूप प्रगट हो। अन्तराय कर्म जाएँ तो सहज शक्ति उसे प्रगट हो। "सहजात्मस्वरूप परमगुरु" यह आत्मा का सहजस्वरूप है, वह कर्म के अभाव से प्रगट होता है। सर्व कर्म क्षय होने पर द्रव्य सहज जैसा हो, वैसा प्रगट होता है। इसे सहजसुख कहा है। सर्व कर्म क्षय होने पर सत्सुख या सहजानंद प्रगट होता है। ज्ञानियों ने जिस शुद्धस्वरूप का वर्णन किया है, वह आत्मा का स्वरूप सच्चा है या नहीं, वह जो सत्संग से पता लगे तो ज्ञानीकी पहचान का कारण हो। कषाय घटें तो क्षय भी हो सकते हैं और सहज स्वरूप प्रगट होता है, यह जीव को सत्संग से पता लगता है। सत्संग में जीव के सब संकल्प-विकल्प शांत हो जाते हैं। सत्संग हो तो ज्ञानी का कथन सच्चा मानने का अनुमान हो सके। जीव आनन्दस्वरूप है, वह ज्ञानी के योग से समझ आती हैं। ज्ञानी कुछ बोलते करते न हों फिर भी जीव को समझ आ जाती है। ज्ञानी ने जो कहा उसका अनुभव उसे सत्संग में हो।

आत्मा के जितने संकल्प-विकल्प कम हों उतना चारित्र प्रगट हो। जैसे जैसे चारित्र प्रगट हो, वैसे वैसे स्थिरता होती है। निर्विकल्पता पाने के लिए सुधारस, सत्संग, सत्शास्त्र, वैराग्य, उपशम साधन हैं। ये आत्मस्थिरता के कारण हैं। सुधारस, एक प्रकार का रस मुख में झरता है। वह एक स्थिरता का साधन है। वहाँ जीवका उपयोग रुकता है। अतः यह भी एक साधन है। यह रस जड़ है तो भी स्थिरता का एक साधन है। सारा जगत

सुख के लिए भटकता है। देव, मनुष्यादिक सर्व सुख के लिए प्रयत्नशील हैं। आत्मस्थिरता हो तो सब कल्पनाएँ छूट जाएँ और आत्मा का सुख ध्यान में आएँ। जैसे नाक पर दृष्टि रखने से इधर उधर दृष्टि न जाने से स्थिरता होती है। सुधारस अर्थात् अमृतरस, इसमें उपयोग रहें तो आत्मा स्थिर होती है। जहाँ यह रस झरता है, वहाँ आनंद आता है। इससे जीव की वृत्ति वहाँ ठहरती है। ऐसी वैराग्य-उपशम से भी वृत्ति स्थिर होती है। सत्शास्त्र में लीन बने तो फिर सद्विचार आएँ और सब विकल्प दूर हो जाएँ। उससे निर्विकल्प दशा कैसी होती है, उसका अंदाज आता है।

श्री.रा.प.-६४२ (१३०) बो.भा.-२ : पृ.-२६८

पूज्यश्री :- कृपालुदेव अपने को कहते हैं, उसका लक्ष्य रखें तो जीवन पलट जाएँ। सारी जिंदगी पर कथा और पर वृत्ति में जा रही है। ज्ञानीपुरुष एक क्षण भी व्यर्थ न जाएँ, इस का लक्ष्य रखते हैं। जैसा अवलम्बन हो, वैसा भाव होता है। विश्व में पर कथा - पर वृत्ति है, उसमें रहे तो मानवभव हार जाएँ। जीव जब सोता है तब पता नहीं चलता कि कितना समय निकल गया। लक्ष्य न रखें तो अनन्त भव चले गएँ, वैसे ही यह भव भी चला जाएगा।

यदि जीव सावधानी रखें तो एक समय भी पर वृत्ति में न जाने दे। पहले से ही प्रमाद छोड़कर ज्ञानी की शिक्षा मान लें तो फिर जीवन लम्बा लगता है। यह देखते रहना है कि मेरा समय किसमें जा रहा है? 'जगत को अच्छा दिखाने के लिए अनन्त बार प्रयत्न किया, इस से अपना अच्छा न हुआ।' (श्री.रा.प-३७) महापुरुष से जो मंत्र मिला, वह आज्ञा पाले तो काम हो जाएँ। अन्य सब भूल कर, करने योग्य यह है। जितना प्रमाद हो उतना बंधन होता है। अज्ञान दशा में जो कर्म बंधें हैं वे कोड़ा कोड़ी सागर से कम हो ही नहीं। अतः सावधान रहना। "स्थिरता कहाँ से हो?" ऐसा कहा वो ज्ञानीपुरुषकी बात है। स्वरूपमें स्थिरताकी बात है। मुमुक्षुको तो ज्ञानीकी आज्ञामें स्थिरता करनी है। हिसाब न रखें तो लाभ-हानि का पता न लगे। मनुष्यभव लाभ में जाता है या अहित में? यह गहरे उतर कर

खुदको विचार करना है। लेकिन यह जीव ज्ञानी के बोध पर लक्ष्य नहीं देता।

ज्ञानी पर यदि श्रद्धा हो तो आधा काम हो गया कहलाता है। ज्ञानी की आज्ञा से अवश्य ही कल्याण होगा। ऐसा विश्वास हो तो यह पुरुष प्रतीति हुई और फिर उनके वचन की भी प्रतीति आती है। ज्ञानी से मेरा हित है। मनुष्य भव लोगों को अच्छा दिखने में बिताना नहीं। निश्चय करे कि मुझे ज्ञानी की आज्ञा में ही रहना है, तो काम हो जाएँ। स्मरण मन्त्र मिला है उसमें चित्त रहे तो जगत में न रहे। प्रमाद न करने का निश्चय करें तो मोक्ष हो जाएँ। कृपालु देव ने कितना सारा पुरुषार्थ किया है। 'यद्यपि तीर्थंकर बनने की इच्छा नहीं, परंतु तीर्थंकरो के अनुसार करने की इच्छा है।' (श्री.रा.प-१७०) ऐसा निश्चय किया था। **ज्ञानी का दिल जान कर, ज्ञानी ने जो पाया वैसा ही मेरा स्वरूप है, ऐसा करना है। अपूर्वता लगे तो फिर जीव इसमें कूद पड़े। ज्ञानी और अपने में भेद नहीं। पराभक्ति आएँ तो ज्ञानी और स्वयं अभेदरूप हो जाएँ। जैसा बनना हो, वैसी भावना करो।**

श्री.रा.प.-६४९ (१३१) बो.भा.-२ : पृ.-२७०

मनुष्यभव के एक क्षण में समकित हो सकता है। एक क्षण में श्रेणी शुरु कर सकता है। एक क्षण में केवलज्ञान हो सकता है। अतः एक पल भी व्यर्थ न करो।

जहाँ दुःख है वहाँ सुख मानता है, आनन्द मानता है, यह अज्ञान है। जीव कौन सा सुख चाहता है? वह स्वयं नहीं जानता। दुःख होने का कारण इच्छा है। व्याकुलता ही दुःख है। ज्यों ज्यों इच्छाएँ कम हों, त्यों त्यों सुखी बनोगे। **'संतोषी नर सदा सुखी।'** ज्यों ज्यों इच्छाएँ ज्यादा त्यों त्यों दुःख ज्यादा। ऊपर के देवलोकों में इच्छा कम है अतः सुखी है। नीचे के देवलोको में अधिक इच्छाएँ और कषाय होने से उनसे ज्यादा दुःखी हैं। मिथ्यात्व है, वहाँ तक जीव दुःखी है। जीव की इच्छा सफल हो तो सुख मान कर आनन्द पाता है। मान्यता में भूल है। चाहता है सुख और आनन्द

और मिलता है दु:ख और आनन्द। सुख ही इसका स्वभाव है। आनन्द है वह वृत्ति है, उल्लास है। दु:ख को ही सुख मानता है। वह क्षणिक है और कर्म बन्ध का कारण है। इसलिए वह दु:खी है।

प्रथम सत्संग करना चाहिए। सत्संग में कुछ सुनने को, कुछ विचारने को मिलता है। ज्ञानी की और मेरी मान्यता में क्या फर्क है? इसका पता लगता है। सत्संग में वस्तु समझ में आती है। "सूर्य से तपे हुए पत्थर, सूर्यास्त बाद भी अमुक समय तक तपे (गर्म) रहते हैं।" (श्री.रा.प-५०९) उसी तरह ज्ञान होने के बाद भी अज्ञान के संस्कार रहते हैं। उन संस्कारों से सावधान न हो तो फिर से अज्ञानी बन सकता है। जैसा संग वैसा रंग।

श्री.रा.प.-६७० (१३२) बो.भा.-२ : पृ.-२७८

ज्ञानी की प्रवृत्ति परमार्थ के लक्ष्य बिना होती नहीं। वे परमार्थ के लिए ही जीते हैं। कृपालुदेवने लिखा है की ज्ञानी का खाना, पीना सब धर्म है। मुनित्व का उदय आएँ, उस दिन को धन्य है।

संसार में जिसे कदम कदम पर दु:ख है, ऐसा महसूस हुआ है और दु:ख जाने का उपाय खोजता हो तो ज्ञानी कहते हैं कि आत्मज्ञान से यह दु:ख मिट सकता है। आत्मज्ञान बिना कोई जन्म मरण से छुड़ा नहीं सकता।

चाहे कितने भी व्रत-नियम कर लो, पर आत्मज्ञान बिना पुण्य भोगकर खतम होता है। सर्व प्रथम आत्मज्ञान करना है। जो कुछ करे आत्मज्ञान के लिए। यह ज्ञानी की शिक्षा नहीं भूलना। व्रत-नियम तो एकादि अंक बिना शून्य समान हैं। अभव्य जीव भी व्रत, नियम पालते हैं; तिल जितने टुकडे करने पर भी क्रोध नहीं करते, तो नव ग्रैवेयक तक जाते हैं, परन्तु यह आत्मज्ञान की प्राप्ति के लक्ष्य बिना करते हैं। कषाय कम करें, उतना पुण्य बाँधे। उससे देव सुख मिलता है। परन्तु यह सुख स्थायी नहीं। खाली हाथ वापिस आना पड़ता है। आत्मा को भूल जाते हैं और मैं व्रत करता हूँ, मैं नियम करता हूँ, ऐसा अभिमान आ जाता है। वस्तुत: आत्मज्ञान के बाद व्रत, नियम तो कर्म तोड़ने के शस्त्र हैं, फिर पँच महाव्रत

पालें तो वे व्यर्थ न जाएँ। आत्मज्ञान के लक्ष्य बिना करे तो मात्र पुण्य बंध हो। चौथे गुणठाणे आत्मज्ञान होता है, श्रावकत्व पाँचवें और मुनित्व छठे में आता है। व्रत-नियम न करें ऐसा नहीं पर आत्मज्ञान करके जितना करें उतना निर्जरा का कारण बनता है। पाप की अपेक्षा पुण्य अच्छा है, जैसे कोई धूप में से छाया में आए। जितना करना हो, लक्ष्य सहित करो। इसके बिना व्यवहार कुछ काम का नहीं। जब तक अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व है तब तक कर्म का क्षय नहीं होता। पुण्य बंध होता है।

"निश्चय वाणी सांभळी, साधन तजवां नोय;
निश्चय राखी लक्षमां, साधन करवां सोय।" १३१ आ.सि.

आत्मज्ञानी के आश्रित बनें तो आत्मज्ञान हो सके। आत्मज्ञानी का योग न हो तो आत्मज्ञान होना दुष्कर है। ऐसे योग की भावना करना। आत्मार्थी जीव ऐसी भावना करें कि मुझे सद्गुरु का योग कब मिले?

"प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार;
एवो लक्ष थया विना, उगे न आत्म विचार।" ११ आ.सि.

चाहे कितने भी शास्त्र पढ़ें, व्रत पालें; पर भूल रह जाती है। जीव अनंत काल से ठगा जाता रहा है। "वह साधन बार अनंत कियो, तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो।"

मुझे स्वच्छंदी नहीं बनना। स्वच्छंद से मोक्ष नहीं होता। यह स्वच्छंद सद्गुरु के योग से रोका जा सकता है। ऐसे योग की भावना करना कि मुझे किसी सद्गुरु का योग कब होगा?

प्रश्नः- कर्म के उदय से मुनित्व आया हो पर यथार्थ ज्ञान न आया हो और उपदेश तो करना पड़े तो क्या करना?

उत्तर :- सत्पुरुष के योग की भावना करना। मत-मतांतर में फँस न जाना, ऐसा उपदेश करना। स्वयं सत्पुरुष की भक्ति करना और उनकी भक्ति का उपदेश देना। सच्ची वस्तु की भावना से उपदेश करना। सच आएँ तो सब आएँ। सत्पुरुष के प्रति भाव हो, आज्ञा पालन हो ऐसी

भावना से उपदेश देना। दुषमकाल कहने का कारण है कि इस काल में सत्पुरुष की भक्ति, गुणग्राम मिलता नहीं। जहाँ आत्मज्ञान है, वहाँ से अपना कल्याण होगा।

आत्मार्थ मत भूलो। जो भी करो, आत्मार्थ के लिए करो। आत्मा का कल्याण हो वैसा करो। आत्मा चिन्तामणि रत्न जैसा है। जो माँगो वह मिले, पर माँगने आना चाहिए। आत्मज्ञान होने के बाद मोक्ष तुरन्त नहीं होता। कर्म बाकी हों तो भव लेने पड़ें। आत्मार्थ अर्थात् राग-द्वेष में न जाना। समभाव रखना। कैसा भी तप कर के मुझे राग-द्वेष निकालना है, ऐसा लक्ष्य हो, तो सफलता मिले। वर्ना 'तपसी तो लपसी' पड़े। (लपसी = फिसल जाना)

श्री.रा.प.-६२६ (१३३) बो.भा.-२ : पृ.-२६२

जीव निमित्तवासी है। मुनिओं की बात अलग है, परन्तु सामान्य जीवों की अपेक्षा तो यह एक सिद्धान्त जैसी बात है। मुनि तो किसी भी स्थान पर, बाजार में भी ध्यान कर सकते हैं। पर सामान्य जीवों को तो जैसा निमित्त मिले, वैसा हो जाता है, अतः निमित्तों से बहुत संभलना। अच्छे निमित्त में रहना। कहावत है कि निमित्तवासी जीव है, जब तक अच्छे निमित्त से अच्छे भाव और बुरे निमित्त से बुरे भाव हों, तब तक अच्छे निमित्त में ही रहना। अपना जीवन देखें तो ज्ञानीके वचन सत्य लगे की निमित्त मिलते ही वैसा मैं हो जाता हूँ। उपाध्यायजी यशोविजयजी ने कहा है;

'जेम निर्मलता रे रत्न स्फटिक तणी, तेम ज जीव स्वभाव;
ते जिन वीरे धर्म प्रकाश्यो, प्रबल कषाय अभाव।'

जीव स्फटिक रत्न जैसा है, तथापि जैसा निमित्त मिले, वैसा बन जाता है। मनुष्य देह मिले तो मनुष्य जैसा, पशु देह मिले तो पशु जैसा बन जाता है। इन सब का कारण कर्म है। अतः कर्म बाँधते समय ध्यान रखना। अच्छे निमित्तों की भावना करना। निमित्तों को उल्लंघने वाली कृपालुदेव की बात अलग है। सम्यक्दर्शन बचाता है। सभी को अपने संग-प्रसंग से भाव कैसा होता है, वह विचारें तो पता चले।

श्री.रा.प.-६८९ (१३४) बो.भा.-२ : पृ.-२९५

पूज्यश्री :- मृत्यु के प्रसंग पर, अर्थात् कोई युवक मर जाएँ तो संसार असार लगता है, अनित्य लगता है, अशरण लगता है। खेद के प्रसंग में खेद करें तो कर्म बंध होता है, अतः इसका दूसरा रास्ता लेना। मोह से खेद करें तो कर्म बाँधे। यह ही खेद यदि वैराग्य सहित हो तो छूट जाएँ, मोह सहित खेद हो तो कर्म बंध होता है।

ममत्व जिसे होता हो वह विचारवान हो तो विचारे करें कि मेरा किसलिए? मेरा-मेरा कर के कोई मोक्ष में नहीं गया। विचारवान हो तो बारंबार यह प्रसंग याद करें, इससे वैराग्य तरफ वृत्ति हो जाती है। मुझे किसी में ममत्व नहीं करना। ममत्व यदि अंतरंग में लगता हो तो उसका त्याग करो। मरते समय यदि ममत्व रहा, तो समाधि मरण नहीं होगा। मृत्यु समय कोई बचाएगा नहीं। ये सब संग तुच्छ हैं। आत्मा से सब हीन। ये अनित्य पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं। 'मेरा मेरा' यह भाव होता हो तो इसे मृत्युके पहले छोड। सारी जिंदगी मेरा मेरा करोगे तो भी तेरा होगा नहीं। मेरा मेरा करने से मेरा होनेवाला नहीं, यह विचारक सोचता है। कोई किसी को शरण देने वाला नहीं, सब मृत्यु को शरण है। वस्तुओं में जितना मोह, उतना अविचार है। उत्तम में उत्तम वस्तु आत्मा है। इसे छोड़ कर दूसरे को लेने जाएँ तो यह मिथ्यात्व है, मूर्खता है। मोह गए बिना मोक्ष नहीं होता। अनन्त काल तक भ्रमण कराने वाला मोह है। दुःखी होना हो तो मोह करो। समझ से मोह छोड़ देना। मोह से सदैव दूर रहना, इसके जैसा अन्य सुख का मार्ग नहीं। ऐसे विचार से वैराग्यवान वैराग्य के भाव करता है। विचार करें तो सबको ऐसा ही लगता है।

मृत्यु, वैराग्य का कारण है। सिर पर मौत है तथापि जीव मोह में फँसा है। जो मौत न होती तो धर्म को कोई याद भी न करता। भोगभूमि के मानव को मौत का विचार आता ही नहीं। हम किसी को मरते देखें तो मौत याद आती हैं, ऐसे समय भी विरले ही जागृत होते हैं। जागृत होने के प्रसंग पर थोड़ी देर स्मशान-वैराग्य आकर नाश हो जाता है। हलुकर्मी

को धर्म याद आता है, अन्यथा ऐसे प्रसंग में धर्म भूल जाता है। मृत्यु का डर लगे तो अधर्म के रास्ते जीव चले नहीं, अन्यथा साधु बन कर भी माँग कर खाता हो तो भी कजिया-क्लेश किए बिना नहीं रहता।

"उदर भरणादि निज काज करता थका, मोह नड़िया कलिकाल राजे।"

किसी के मरण प्रंसग पर, आत्मा का कल्याण हो, ऐसा निश्चय करना। कोई वृद्धावस्था में, कोई युवावय में, कोई बालवय में, कोई पाँच वर्ष में, कोई पच्चीस वर्ष में मर जाता है। मृत्यु निश्चित नहीं, अतः सावधान रहना।

कई महापुरुष ऐसे हो गए हैं कि छोटी आयु होने पर भी आत्मा का काम कर गए हैं। तीर्थंकर जैसे तीन ज्ञान के धारक तीस वर्ष की युवावस्था में संसार छोड़ कर निकल पड़े।

मनुष्यभव है तब तक आत्म कल्याण कर लेना, यह सुख का कारण है। मेरा कोई नहीं इस तरह सोचना। मृत्यु के प्रसंग में खेद को बदल कर ज्ञानी के वचनों में वृत्ति रखना। ज्ञानी के वचन का विचार करना।

श्री.रा.प.-७१० (१३५) बो.भा.-२ : पृ.-३०५

ज्ञान की अपेक्षा से आत्मा सर्वव्यापी है। लोका-लोकव्यापक, शुद्धस्वरूपी, अत्यन्त निर्मल, सर्व परसंग से रहित, अबाध्य अनुभव वाली, सर्व को जानने वाली, सर्व पदार्थ और उनके स्वरूप को जानने वाली आत्मा है। आत्मा का लक्षण उपयोग है। आत्मा सुख स्वरूप है। जीव के अलावा अन्य द्रव्यों में सुख नहीं मिलता। आत्मा, इन्द्रियों से जानी नहीं जा सकती। आत्मा आँख से दिखें या कान से सुनाई दे ऐसा नहीं है। यह तो स्वसंवेदन गोचर है।

आत्मा तीनों काल में रहने वाली है क्योंकि वह उत्पन्न नहीं होती, असंयोगी है अतः नित्य है। आत्मा विभाव में जाएँ तो कर्म की कर्त्ता कहलाएँ और स्वभाव में रहे तो स्वभाव की कर्त्ता कहलाएँ। जीव को अपने

स्वरूप का पता हो तो स्वभाव में रहे। सहजस्वरूप में निरंतर स्थिर रहना, इसका नाम मोक्ष है। उस मोक्ष के साधन सद्गुरु, सद्शास्त्र, सद्विचार, संयमादि हैं। आत्मा है, वह नित्य है, वह कर्म की कर्त्ता है, वह कर्म की भोक्ता है, मोक्ष है, मोक्ष का उपाय है। ये छः पद सच्चे हैं।

जीव कर्म बाँधता है, उन्हें भोगने के क्षेत्र भी हैं। निश्चय से आत्मा केवलज्ञान स्वरूप ही है। निज स्वरूप में आत्मा परिणमे तो केवलज्ञान है। उस स्वरूप की प्रतीति का नाम सम्यक्दर्शन है। उस प्रतीति के निरन्तर रहने का नाम क्षायिक समकित है। क्वचित् मंद, क्वचित तीव्र इस तरह परिवर्तन हो तो वह क्षयोपशम समकित है। थोड़ी सी देर शुद्ध प्रतीति रहे तो वह उपशम समकित है। क्षायिक सम्यक्त्व होने वाला हो, उस समय वेदक सम्यक्त्व होता है। पतित अवस्था में सास्वादन सम्यक्त्व होता है।

सम्यक्दर्शन होने पर जीवको हर्ष-शोक नहीं होता। मैं - मेरा नहीं होता। जो भाव पूर्वक चारित्र की आराधना करें तो मोक्ष हो। स्वरूप रमणता का नाम चारित्र है।

श्री.रा.प.-७२२ (१३६) बो.भा.-२ : पृ.-३१०

शरीर में असाता हो तो सगा संबंधी कोई दुःख नहीं लेतें। स्वजन और देह का मोह छोड़ना है। वह असाता के समय छूट सकता है। शरीर का तो सड़न-पड़न और विध्वंसन स्वभाव है। अतः उसका विश्वास नहीं करना। न जाने कब पड़ जाएँ? आत्मा की मृत्यु नहीं। मोह को साथ लेकर पर भव में नहीं जाना। मन में से सब निकाल देना। प्रभु वीर ने दीक्षा ली तो क्या करते रहे? मोह को क्षय करने का पुरुषार्थ करते रहे। इस के लिए रात दिन झूरते। बिमारी में मोह को मंद करने का विचार करना। थोड़ी बहुत वेदना तो सब को होती है। शरीर वेदना सहित है, जब शरीर का त्याग करना ही है तो फिर मृत्यु के प्रथम देह, कुटुंबादि का मोह छोड़ना। वेदना के समय विचार करें तो सहज ही वैराग्य हो जाएँ। वैराग्य सहित विचार हो तो मोह मंद हो जाएँ। ज्ञानीपुरुष के वचन जीव को जागृत करते हैं। वेदना में समय व्यतीत होता है, वह सद्विचार में बिताएँ तो समकित प्राप्त हो। अनाथीमुनि जैसे को समकित हो गया।

आत्मसिद्धि चमत्कारी वस्तु है। सब से हटाकर आत्मा पर लाने वाली है। बड़े बड़े आचार्य थाप खा जाते हैं, उन्हें भी ठिकाने लाने वाली हैं। विशेषरूपसे सोभागभाई को विचार करने को कहा है।

श्री.रा.प.-७३६ (१३७) बो.भा.-२ : पृ.-३१

आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान की तारतम्यता से कर्मबन्ध भी होता है। तीव्र ज्ञानदशा आएँ तो बंध न हो। केवलज्ञान से पूर्व पार्श्वनाथ भगवान को कमठ ने उपसर्ग किया था। भगवान सब देखते रहें। गजसुकुमार के सिर पर अँगारे दहकते थे, वह देख रहे थे। वह नेमिनाथ भगवान से सीख आये थे कि सुख-दुःख का संबंध शरीर के साथ है। आत्मा तो परमानन्दरूप है। आत्मस्वभाव का नाश नहीं होता। आत्मा जलने वाली या नाश होने वाली वस्तु नहीं। रागद्वेष के बलवान निमित्त होने पर भी राग-द्वेष या अस्थिरता भी जिसके चित्त में होती नहीं, ऐसे सत्पुरुष हैं। "जिन्होंने तीनों काल में देहादि से अपने को कोई भी संबंध नहीं, ऐसी असंग दशा उत्पन्न की उन भगवानरूप सत्पुरुषों को नमस्कार है।" (श्री.रा.प.-७७९) देहातीत दशा वाले पुरुष कैसे रहते होगें? ऐसा विचार आएँ तो अपना वास्तविक स्वरूप, शुद्धस्वरूप की समझ आएँ। शुद्धस्वरूप में राग-द्वेष नहीं होता। जहाँ असंगता का विचार आएँ वहाँ निर्जरा है। वरना चित्त अन्य विचार या संकल्प विकल्पमें जाये तो कर्म बंध हो। राग-द्वेष का सर्वथा क्षय होने पर केवलज्ञान होता है। "शुद्धभाव मुझ में नहीं।" वह अपने में नहीं, पर भगवान में तो हैं नँ? उसमें वृत्ति रखें तो निर्जरा हो। महापुरुष शुद्धभाव में ही है। वहाँ यदि चित्त दृढ़ हुआ तो निर्जरा होगी।

श्री.रा.प.-७४१ (१३८) बो.भा.-२ : पृ.-३११

जैसा बनना हो, उसी में चित्त रखना। सर्वज्ञ बनना हो तो कोई भी काम करने से पूर्व सर्वज्ञ को याद करें, सर्वज्ञ बनने का लक्ष्य रखें।

लौकिक विचार परमार्थ को नाश करते हैं। इस से परमार्थ लाभ अटक जाता है। विकल्प जीवको एक अन्तराय है। लोग कुछ भी कहें पर आत्मा को लाभ होता हो, तो कर लेना। लोगों को संसार रुचता है।

परमार्थ मार्ग इससे उल्टा है। लौकिक भाव छोड़कर आगे बढ़ना है, अन्यथा सत्संग नहीं होता। लोक मूके पोक मुझे अपनी आत्मा का करना है। प्रभुश्रीजी कहत थे कि भालों की बरसात बरसती हो तो भी सत्संग करना और मोती की बरसात हो तो भी कुसंग नहीं करना। निवृत्ति काल और निवृत्ति क्षेत्र हो, उस समय में जीव को सत्पुरुष का योग रहे तो पर भव में भी साथ आता है।

'एनु स्वप्ने जो दर्शन पामे रे, तेनुं मन न चढ़े बीजे भामे रे।'

महापुरुषों का थोड़ा भी सत्संग हो तो बहुत शान्ति होती है। सत्संग हो और बोध हृदय में वसे तो फिर समकित होने में देर नहीं लगती। गुरुगम चाहिए। आत्मा को लाभ होता हो तो लोग कुछ भी कहते रहें, आत्मा का काम कर लेना चाहिए। निवृत्ति में लाभ हुआ हो तो मरते समय भी याद आएँ।

श्री.रा.प.-७५१ (१३९) बो.भा.-२ : पृ.-३१२

पूज्यश्रीः- आत्मसिद्धि में तीन प्रकार के समकित कहे हैंः-

'स्वच्छन्द मत आग्रह तजी, वर्ते सद्गुरुलक्ष;
समकित तेने भाखियुं, कारण गणी प्रत्यक्ष।' १७ आ.सि.
'वर्ते निज स्वभाव नो, अनुभव लक्ष प्रतीत;
वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकित।' १११ आ.सि.
'वर्धमान समकित थइ, टाळे मिथ्याभास;
उदय थाय चारित्रनो, वीतरागपद वास।' ११२ आ.सि.

पहले समकित में जो सद्गुरु का बोध हो, उसकी प्रतीति होती है। बाद में उसका विचार करें, वह पहला समकित है। आज्ञा की अपूर्वता और आप्त पुरुष की भक्ति, यह भी पहला समकित है। इसमें ज्ञानी की आज्ञा में ही मेरा कल्याण है, ज्ञानी मुझे जो आज्ञा करें, वही मुझे करना है। इस तरह आज्ञा की अपूर्वता होती है। अपनी इच्छा से स्वछंदता को छोड़कर ज्ञानी की आज्ञा में रहना, वह प्रथम समकित है।

प्रथम समकित, दूसरे समकित का कारण है। परमार्थ की अंश में अनुभव से प्रतीति वह समकित का दूसरा प्रकार है। आत्मा का मनन करते, आत्मा का निदिध्यासन करते अर्थात् भावना करते हुए उसमें अंश में अनुभव होता है। यह दूसरा प्रकार है।

तीसरे समकित में जीव विकल्प रहित होता है। यद्यपि श्रुत का अवलम्बन तो बारहवें गुणस्थानक तक है। श्रेणी माँडे वहाँ भी वितर्क अर्थात् ज्ञानी के वचन का - श्रुत का अवलम्बन होता है। पृथकत्व-वितर्क-विचार से शुक्ल ध्यान में मोहनीय का क्षय होता है और एकत्व-वितर्क-विचार से शुक्ल ध्यान में अर्थात् बारहवें गुणठाणे में सब घाति कर्म का क्षय करके केवल ज्ञान प्रगट होता है, वहाँ तक ज्ञानी ने जो उपदेश दिया है वह इसे आधारभूत है।

प्रथम पुरुष प्रतीति अर्थात् ज्ञानी सच्चा है, उसके वचन सच्चे हैं, ज्ञानी की आज्ञा ही मुझे पालनी हैं, ऐसी रुचि पहली समकित में होती हैं। दूसरे में ज्ञानी के वचनों का विचार, मनन हो, इससे अज्ञान दूर होता है और आत्मा यह ही है ऐसी समझ आती हैं। तीसरे में निर्विकल्पता है। परमार्थ समकित कहा, उसमें अंश में परमार्थ का अनुभव है। तीसरी दशा मेरी कब आएगी? ऐसी भावना करनी चाहिए। तीनों समकित की भावना रहा करें कि मुझे यह दशा लानी है, तो समकित हो।

श्री.रा.प.-७५७ (१४०) बो.भा.-२ : पृ.-३१६

पूज्यश्री:- भगवान की वाणी चार प्रकार की है :- १. द्रव्यानुयोग २. चरणानुयोग ३. करणानुयोग ४. धर्मकथानुयोग। द्रव्यानुयोग में छः द्रव्य में मुख्यतः सब आत्मा की बातें आती हैं। करणानुयोग में कर्म की बात आती हैं। चरणानुयोग में चारित्र की बात आती हैं। धर्मकथानुयोग में जीवनचरित्र कहानीरूप में आता है। पाँच परमेष्ठी हैं, उन सब में पूजने योग्य तो "सहजात्मस्वरूप" है।

सागर में से बिन्दु जितने शास्त्र इस काल में रह गए हैं। गहन बातें लोग भूल गए हैं। स्थूल-स्थूल वचन रहे हैं। इस काल में मोक्ष नहीं, ऐसा

न सोचें। जिसे भव का भय लगे वह भगवान के एक वचन का भी उत्थापन नहीं करता। भवभीरु जीव खंड़न-मण्ड़न नहीं करते, क्योंकि उससे भगवान के वचनों की विराधना होती हैं।

श्री.रा.प.-७६७ (१४१) बो.भा.-२ : पृ.-३३३

ज्ञानी की आज्ञा से चलना पड़े तो चलना, ज्ञानी की आज्ञा से बोलना पड़े तो बोलना, ज्ञानी की आज्ञा से शुद्ध आहार लेना पड़े तो लेना। ज्ञानी की आज्ञा से उपकरण आदि रखने पड़ें तो रखना, ज्ञानी की आज्ञा से मलमूत्र विसर्जन करना पड़े तो निर्जंतु भूमि देखकर विसर्जन करना।

ज्ञानी की आज्ञा मुख्यरूप से तो आत्मा में ही रहने की हैं। ऐसा न हो तब ज्ञानी की आज्ञा से आत्मा का लक्ष्य रख कर समिति में रहना पड़े तो रहना।

श्री.रा.प.-८४३ (१४२) बो.भा.-२ : पृ.-३५०

जब तक होश हो तब तक भगवान का आश्रय लेना। मृत्यु की अन्तिम पल तक भी छोड़ना नहीं चाहिए। महापुरुष का एक वचन भी ग्रहण किया हो, तो मोक्ष हो सकता है। संसार दुःख का समुद्र है, ज्ञानीपुरुष का आश्रय मिले तो यह जीव इन अनंत दुःख से मुक्त होवें। ज्ञानीपुरुष का आश्रय मिला हो तो मोक्ष अवश्य मिलेगा ऐसी दृढ़ श्रद्धा रखना। मृत्यु के समय भी ज्ञानीपुरुष का आश्रय मत छोड़ें, बहुत लाभ है। जीव को सत्पुरुष पर श्रद्धा हो और उन के वचनानुसार चलें तो कल्याण है। अबुध और अशक्त जीवों का भी एकवचन से मोक्ष होता है। जिन्हें आत्मज्ञान है उनके वचन मान्य करनेसे कल्याण होता है। ज्ञानी का एक भी वचन ग्रहण करनेवाला सच्चे (मोक्ष) मार्ग पर है।

द्वादशांगी का सार यही है कि देहादि भाव छोड़कर, जो बने, उसको जानने वाला मैं हूँ, देह छूटे पर मैं नहीं मरता। इस तरह देहाध्यास छोड़ना। इसी से कल्याण है। देह की शोभा करके मानता है कि मैं अच्छा कर रहा हूँ, देह का मोह छूटें तो मोक्ष हो। देह के कारण हर्ष शोक होता

है। देह मैं हूँ यह मिथ्याभाव है। इससे राग द्वेष होता रहता है। सब शास्त्रों का सार यही है कि देहादि संबंधी हर्ष या विषाद नहीं करना। अपना शुद्धस्वरूप आत्मा है, ऐसी भावना करना। शास्त्र न पढ़ें हों तो भी इतनी भावना तो कर सके।

खेद करने की जरूरत नहीं। मैं नहीं पढ़ा, मैं धर्म नहीं पाया, यों न करना वीतराग भगवान का कहा धर्म सच्चा है। अब शेष भव उनके आश्रय में ही बिताना है। इतना हुआ तो सब कर चुके। वेदना के समय वृत्ति मंद पड़े तब जिसने अखण्ड निश्चय रखा हो, ऐसे महापुरुषों के चरित्र याद करना। वृत्ति भगवान में रहें, तो पुरषार्थ हो। सिर पर मृत्यु है, अतः जितना हो सके कर लो।

श्री.रा.प.-८४३ (१४३) बो.भा.-२ : पृ.-३५२

जिसे धर्मका माहात्म्य है उसने कितना लिखा है। भगवान वीतरागों द्वारा निश्चितार्थ किया धर्म परम हितकारी है, अमृत स्वरूप है। इसके जैसा हित अन्यत्र कहीं नहीं। अद्‌भुत वस्तु है, चमत्कारी है! आत्मा का चमत्कार कैसा है? आत्मा न हो तो मुर्दा है। सब चमत्कार आतमा का है। अनंतकाल का जन्म-मरण छुड़ाने वाला अद्‌भुत मार्ग श्री वीतरागों ने कहा है। वह सर्व दुःखों का ऐसा नाश करता हैं कि पुनः दुःख उत्पन्न ही न हो। ऐसा यह धर्म है। परन्तु जीव को माहात्म्य नहीं है। भगवानने चमत्कारी मार्ग कहा है। जीव उसे क्यों न ग्रहण करें? कोई रत्न दे तो जीव उसे ग्रहण न करें? अनंत काल तक सुखी होने का मार्ग यही है। सर्वोत्कृष्ट धर्म तो वीतराग धर्म है। इसका लक्ष्य रखना। इसकी आराधना करना। इसी में ही जीवन बिताना है। फिर नहीं बनेगा, भगवान और भगवान के कहे धर्म के आश्रय से भवपार हो सकता है। भगवान से धर्म अलग नहीं है। धर्म तो सत्पुरुष के दिल में ही है।

सम्प्रति राजा पूर्वभव में भिखारी था। कुछ भी खाने का न मिलने से भूख का मारा साधु बना। पर उसे लगा की यह मार्ग सच्चा है। मुझे खानेको

मिला और मुझे लोग नमस्कार करते हैं। उसे धर्म के प्रति उल्लास भाव जागा। निश्चय और आश्रय पूर्वक देह छोड़ा तो आगामी भव में राजा बना।

मार्ग का प्रभाव कैसा है! सत्य को पकड़ो तो मोक्ष हो जाएँ। कुछ करता न हो, कुछ समझता न हो परन्तु इस मार्ग का आश्रय पकड़े तो काम हो जाएँ। इंजन के साथ कड़ी जुड़नी चाहिए। यह मार्ग उत्कृष्ट है, ऐसा निश्चय करके, उसीका आश्रय करना चाहिए।

पर पदार्थ को अपना मानना, मिथ्यात्व है। देह ही मैं यह हो गया है। देह के निमित्त, घर के निमित, कुटुम्ब के निमित हर्ष-विषाद न हो, तो मानो सारी द्वादशांगी समझ में आ गई। सच्चा धर्म कौन सा है? धर्म किसे कहते हैं? वह बताते हैं :- **"वीतराग पुरुषों का धर्म जो देहादि संबंधी हर्षविषादवृत्ति दूर करके 'आत्मा-असंग-शुद्ध-चैतन्य-स्वरूप है', ऐसी वृत्ति का निश्चय और आश्रय ग्रहण कर के उसी वृत्ति का बल रखना।"**

वीतराग ने कहा है कि देहादि संबंधी हर्ष-विषाद न करना। यदि इतनी ही पकड़ रखें और दूसरा कुछ न करता हो तो भी चलेगा। 'आत्मा-असंग-शुद्ध -चैतन्य स्वरूप है' यह वृत्ति दृढ़ करना है। फिर हर्ष खेद नहीं होता। अन्य वस्तु में न खिंचाओ, यही धर्म है। महावीर भगवान ने दीक्षा लेनेके बाद आँख मसलने जितनी भी शरीर की सँभाल न ली। यह बारंबार याद रखना चाहिए। इस देह से काम कर लेना है। इस देह के प्रति हर्ष -विषाद न हो, इतना मुझे करने दो। पर वस्तु की चिन्ता में जल रहा है; आत्मा का विचार नहीं आता।

देहादि संबंधी हर्ष-विषाद न करना ही सभी शास्त्रों का सार है सभी शास्त्र बारंबार यही कहते हैं। निःस्पृही पुरुष कैसे निर्मोही होते हैं! उन्होने देह की परवाह ही नहीं की।

मंद वृत्ति होने पर महापुरुषों के चरित्र स्मरण करना। आत्मा देखने जैसा है। कर्म नहीं देखना। महापुरुषों के चरित्र अद्भुत हैं।

किसी को वृद्धावस्था के वक्त खेद होता होगा उसे कृपालुदेव ने खेद न करने के लिए पत्र लिखा होगा। **'मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा हूँ'**, यह मत भूल। यह भाव वृद्धावस्था में, युवावस्था में, मरते समय करें तो हो सके।

परम पुरुष की दशा में वृत्ति रखना। सीधे न चल सको तो लकड़ी से चलो। उसी तरह जीव अशक्त, अबुध हो तो ज्ञानीरूप लकड़ी लेकर चलें।

श्री.रा.प.-८६० (१४४) बो.भा.-२ : पृ.-३५३

वीतरागमुद्रा देखकर वृत्ति स्थिर करना। यह रूपावलोकन ध्यान है। यदि अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय का विचार करें तो मोह नाश होता है। अरिहन्त के स्वरूप समान मेरा स्वरूप है। अरिहन्त का स्वरूप, अपना स्वरूप देखने का दर्पण है। दर्शनमोह घटें तो जगत असार लगता है। फिर स्वरूपावलोकन होता है। विपरीतता छूटे बाद स्वरूपावलोकन दृष्टि होती है। दर्शनमोह हो, तब तक स्वरूपावलोकन नहीं होता।

इस के लिए महापुरुष का निरन्तर या विशेष समागम करें; जो स्वरूपावलोकन करता हो, उस के पास रहें। दूसरा सत्शास्त्र का चिन्तन, सत्समागम और सत्शास्त्र में भावना ऐसी रखना कि मैं सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिए यह करता हूँ। सबका आधार गुणजिज्ञासा है, यह लक्ष्य न हो तो यह योग हुआ वह और सत्शास्त्र भी कुछ न करें। भावना जितनी बलवान हो, उतना यह साधन काम करें। साधन सीढ़ी जैसा है, भावना मंद हो तो साधन भी कुछ काम का नहीं है। सद्‌गुरु योग, सत्शास्त्र योग निज उल्लास वाली योग्यता से प्रवर्ते तो सम्यक्‌दर्शन होगा। देहदृष्टि छूट कर स्वरूपावलोकन होगा। गुणजिज्ञासा अर्थात् शम-संवेगादि गुण प्रगट करने की भावना। ऐसे गुण प्रगटें तब सम्यक्‌दर्शन होता है। अधिकारी बनना अपना काम है। चाहे कैसा भी योग बना हो, परन्तु ये गुण प्राप्त न हों तो योग भी अयोग है।

"नहि कषाय उपशांतता, नहि अन्तर वैराग्य;
सरळपणुं न मध्यस्थता, ए मतार्थी दुर्भाग्य।" ३२ आ.सि.

ये दोष निकालने का पुरुषार्थ न करें तो आत्मार्थी न बन सके। पात्रता लेकर सद्गुरु के पास जाना। पात्रता आने से ही छुटकारा होगा।

वीतराग मुद्रा में दृष्टि नाक पर होती है। वह मुद्रा अपने हृदय में रहे तो द्रव्य-गुण-पर्याय का विचार आता है। दूसरी वृत्तियाँ रुकें तब भगवान का स्वरूप उसे ध्यान में आता है। दर्शनमोह मंद हो तब स्वरूपावलोकन होता है। महापुरुषों का समागम, सत्शास्त्र और सम्यक्दर्शन होने के लिए शम-संवेगादि गुणों की जिज्ञासा, यह दर्शनमोह का अनुभाग कम करने के उपाय हैं।

श्री.रा.प.-८७२ (१४५) बो.भा.-२ : पृ.-३५९

मार्गानुसारी का सर्वप्रथम लक्षण न्यायसंपन्न द्रव्य उपार्जन करना है। धर्म चाहिए तो नीति की नींव दृढ़ करें। प्राण जाय पर नीति न जाएँ। मुमुक्षु को कदापि आजीविका जितना न मिले तथापि आर्तध्यान न करें। स्मरण करते, भूखे मरते सारा दिन व्यतीत करें, पर अनीति नहीं करना। मुझे धर्मध्यान करना है, मन को वश में करना है, ऐसा हो, तो नीति की प्रथम स्थापना करनी चाहिए। न्यायपूर्वक चलने से बहुत गुण प्रगट होते हैं। धर्मध्यान में मदद मिलती है। शम-संवेग आदि गुण प्रगट होते हैं। कषाय करने की आदत छूट जाती हैं। मुमुक्षु को कषाय जीतने हैं। लोभ कषाय कम होनेसे, उसके दूसरे कषाय भी कम हो जाते हैं। सद्वर्तन हो तो ज्ञानी का मार्ग परिणाम पाता है। जिस रास्ते पर ज्ञानी चलाएँ, उसी पर चलें। न्यायपूर्वक चलने से लोभ कम हो जाता है। कषाय मंद पड़े हों तो मोक्ष का मार्ग मिल सकता है। प्राण जाय पर नीति ना जाएँ। ऐसा हो उसे लोभ मंद हो और ज्ञानी परिग्रह छोड़ने को कहें तो छूट जाएँ। ज्ञानी का कहा, समझनां मुश्किल है। ज्ञानी के पास जीव लोभ आदि कषाय साथ लेकर जाता है।

एक पुरोहित था। वह शास्त्र पढ़ा हुआ था। पर कषाय मंद नहीं थे। वह रोज राजा के साथ घूमता था। राजा ने उसे अपनी अंगूठी रखने को दी। वह पुरोहित वापिस देने को भूल गया। संध्या काल में सरोवर के किनारे अंजलि देते अंगूठी सिरक गई। वह नीचे कमल में पड़ी, पर ब्राह्मण को पता न लगा। घर जाने बाद अंगूठी न देखकर चिन्तित हो गया। खोजने पर भी न मिली। राजा का भय सताने लगा। बहुत विचार करने पर भी अंगूठी का पता न मिला। अन्त में उसे पता लगा कि कोई जैन साधु यहाँ आएँ हैं। वह वहाँ गया और कहा कि साहेब! मुझे काम है। मुनिने भव्य जीव जानकर कहा कि बोलो क्या काम है? उसने अंगूठी की बात की। मुनि ने कहा कि सरोवर में अंजलि दी थी, वहीं कमल में पड़ी हैं। सुबह कमल खुले तब जा कर देख लेना। तदनुसार अंगूठी मिल गई। वह लेकर राजा को दे आया। यह एक चिन्ता मिटी, किन्तु यह विद्या मेरे पास नहीं। मुझे यह विद्या सीखनी है। सीधी तरह न सिखाएँ तो कपट से भी सीखनी है। वह घर गया और कहा कि मैं विद्या लेने जा रहा हूँ। मुनिराज मुझे साधु बनने को यदि कहें तो मैं साधु भी बन जाऊँगा। फिर विद्या सीख कर वापिस आ जाऊँगा। गया मुनि के पास। मुनि ने दीक्षा दे दी। वह शास्त्राभ्यास करने लगा। थोड़े वर्ष बीतने पर मुनि ने पूछा, 'घर जाना है?' "अब कौन जाएँ, यहीं आनन्द है," पुरोहित ने कहा।

सत्पुरुष का योग हो तो अच्छी वस्तुएँ ग्रहण करें और खोटी वस्तु छोड़ दे। मुनि के लिए भी कुछ आहार के नियम हैं। निर्दोष आहार से कषाय मंद होते हैं। वर्तमान में मुनिओं के कषाय का कारण यही है कि भगवान की आज्ञा का पूरी तरह पालन नहीं होता। जैसा अन्न, वैसा मन। बाह्य परिग्रह धन धान्य है। चार कषाय, नव नो कषाय और मिथ्यात्व ये चौदह अभ्यन्तर परिग्रह हैं। "क्यारे थईशुं बाह्यांतर निर्ग्रंथ जो?" मिथ्यात्व और कषाय के कारण संसार है। ये जाएँ तो संसार न रहे।

श्री.रा.प.-८८२ (१४६) बो.भा.-२ : पृ.-३६२

सत्पुरुष के वचन आत्मा को शुद्ध करने में अवलंबन हैं। प्रथम काम है, अपने स्वरूप को न भूलना। ज्ञानी को मन-वचन-काया के योग प्राप्त

हैं, वे अन्यों का कल्याण होने के लिए और पूर्व प्रारब्ध भोगने के लिए हैं। महापुरुष उदयाधीन जीते हैं। दूसरों का कल्याण न हो, ऐसे निष्ठुर नहीं होते। तथापि अपनी आत्मा का लक्ष्य रखते हुए सब करते हैं।

श्री.रा.प.-८८५ (१४७) बो.भा.-२ : पृ.-३६३-३६५

सद्वर्तन बढ़े तब ज्ञानी की आज्ञा पाली जाती हैं। सत्पुरुष की आज्ञा पालता है, वह उनकी भक्ति करता है।

आजीविका के लिए सद् उद्यम करना है। गृहस्थ अवस्था तक माँग कर नहीं खाना चाहिए। सद्उद्यम नीति से करना है। बहुत वाँचन की अपेक्षा ज्ञानी की एक आज्ञा का पालन हो जाएँ तो बहुत लाभ हो।

जिसे छूटना है, उसे ज्ञानी के वचन सुनना चाहिए। जिससे उल्लास आएगा। जब उल्लास भाव आएगा तब देह से भिन्न आत्मा समझ आएगी। जब देह से भिन्न आत्मा की समझ आएगी तब जड़ से उदासी होगी। नाशवंत वस्तुएँ मेरे से भिन्न हैं, मैं तो एक उसे जानने वाला हूँ, ऐसी भावना करते रहेना।

श्री.रा.प.-९५४ (१४८) बो.भा.-२ : पृ.-३६८

(श्रीमद् का अन्तिम संदेश - अर्थ)

ॐ श्री जिन परमात्मने नमः।

१. **इच्छे छे जे जोगीजन अनंत सुखस्वरूप;**
मूळ शुद्ध ते आत्मपद, सयोगी जिनस्वरूप।

आत्मार्थी अनन्त सुख को चाहते हैं अथवा योगीपुरुष अर्थात् जिसे परमात्मा के साथ योग करना है वे अनन्त सुख को चाहते हैं। मूल शुद्ध आत्मपद वाला सयोगी जिनस्वरूप है, वह अनन्त सुख का धाम है, उसे ही योगी जन चाहते हैं।

२. **आत्मस्वभाव अगम्य ते, अवलंबन आधार;**
जिनपदथी दर्शावियो, तेह स्वरूप प्रकार।

इस आत्म स्वभाव में बुद्धि पहुँचती नहीं। 'जहाँ मति की गति नहीं वहाँ वचन की गति कहाँ से हो?' (श्री.रा.प.-१७२) विचार में आने वाला नहीं। यह आत्मस्वभाव अगम्य है। इसका रास्ता होना चाहिए। यह स्वरूप पाने के लिए किसका अवलंबन लेना? मूळ शुद्धस्वरूप अगम्य होने से जिन भगवान ने उसे प्रगट किया है, उसका अवलम्बन लें तो प्राप्त हों। ज्यों ज्यों भक्ति हो, त्यों त्यों इस स्वरूप के नजदीक जा सके। जिनपद का विवरण स्वस्वरूप की पहचान होने के लिए किया है। वह स्वरूप अगम्य होने से जिन पद के अवलंबन की जरूरत है।

३. **जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहि कांइ;**
लक्ष थवा ने तेहनो, कह्यां शास्त्र सुखदाई।

जिनपद और निजपद में भेद नहीं। जिन भगवान ने जो स्वरूप प्रगट किया है और अपना जो मूळ शुद्धस्वरूप है, इसमें भेद नहीं। जिनपद की भक्ति करते करते इस पद का ध्यान आता है। जिनपद और निजपद में भेद नहीं, यह लक्ष्य होने के लिए सब शास्त्र कहे हैं। अनंत सुख स्वरूप को जो चाहते हैं, उन्हें अनन्त सुखधाम बताने के लिए शास्त्र कहे हैं।

४. **जिन प्रवचन दुर्गम्यता, थाके अति मतिमान;**
अवलंबन श्री सद्‌गुरु, सुगम अने सुख खाण।

आत्म स्वरूप अगम्य है, जिन प्रवचन भी अगम्य है, दुर्गम्य है, गहन है। 'सत्पुरुष के एकेक वाक्य में, एकेक शब्द में अनंत आगम रहे हैं।' (श्री.रा.प-१६६) गौतम को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, ये तीन शब्द कहें उससे सब शास्त्र रचे गएँ। यह त्रिपदी हम भी सुनते हैं। पर जिन प्रवचन के आशय तक पहूँचना बहुत मुश्किल है। स्याद्‌वाद में तो अनेक अर्थ होते हैं। जैसी अपेक्षा लें, वैसा अर्थ हों। कौन सी अपेक्षा लेनी? इसका निर्णय गुरुगम बिना विद्वान भी नहीं कर सकते। "समझ में आएँ बिना आगम अनर्थकारक हो सकते हैं।" (श्री.रा.प-१२८) बहुत अर्थ करने पर भी थके।

रत्नाकर मुनि थे। बहुत विद्वान थे। मोहनीय कर्म के उदय से स्त्री के वश हुए। एक वणिक को विचार आया कि मुनि उच्च बुद्धिशाली है, पर कर्म के कारण भूला है। उनको बचाने पुरुषार्थ करना चाहिए। वह घी ले कर मुनि के पास आया और बोला मैं यहाँ घी बेचने आया हूँ और वापिस जाना है, पर यह श्लोक है, इसका अर्थ क्या है? मुनिने अर्थ किया, पर उसने कहा कि मुझे तो बैठता नहीं। दूसरे दिन फिर दूसरा अर्थ किया पर उसने कहा कि बैठता नहीं। इस तरह छः मास तक किया। एक दिन मुनि को विचार आया कि इसका अर्थ क्या होगा? इतने अर्थ करने पर भी इसे क्यों बैठता नहीं? विचार करते करते ख्याल आया कि मैं तो सुधरा नहीं, तो दूसरों को कैसे सुधार सकूँ? वणिक भी उस दिन घी बेच कर आया। तब मुनि विहार की तैयारी कर रहे थे। वणिक ने अर्थ करने को कहा तो मुनि ने अर्थ किया। वणिक ने कहा कि यही अर्थ ठीक है।

बुद्धि से कल्याण नहीं। मोह से जागे तो कल्याण हो। सद्गुरु बिना कोई ठिकाना नहीं। सद्गुरु का अवलंबन हो उसे सीधा अर्थ अर्थात् जो करना हो, वही हाथ में आता है। अनन्त सुख की धाम आत्मा ही हाथ में आती है। जिनेश्वर के आगम उसे सुख खान और सुगम हैं।

५. **उपासना जिन चरणनी, अतिशय भक्ति सहित;**
मुनिजन संगति रति अति, संयम योग घटित।

सम्पूर्ण स्वरूप को पाने वाले जिनेश्वर की उपासना करनी चाहिए। जीव संसार की भक्ति करता है। भगवान की भक्ति ऐसी करो कि अन्यत्र कहीं भी चित्त न जाएँ, अतिशय भक्ति हो। मुनिजन की संगति में अति प्रेम हो। अपने से बने उतना संयम पालो। मन-वचन-काया की शक्ति अनुसार संयम पालो।

६. **गुणप्रमोद अतिशय रहे, रहे अंतर्मुख योग;**
प्राप्ति श्री सद्गुरु वड़े, जिन दर्शन अनुयोग।

किसी के गुण देख कर आनंद-प्रमोद हो, ईर्ष्या न हो और अंतर्मुख उपयोग रखें। जगत की विस्मृति हो। 'द्वेष नहीं वली अवरशुं' (पहली दृष्टि) अद्वेष गुण आते ही गुणप्रमोद भी आता है। दूसरे के गुणों से खुशी हो, अपने गुण प्रगट करने का पुरुषार्थ करें। पाँच इन्द्रियों के विषयों में फँसे नहीं। ज्ञानी ने कहा है कि देह से आत्मा भिन्न है, वैसा ही मैं हूँ। ज्ञानी के आधार पर स्वरूप जाने। वास्तविक स्वरूप क्या है? वहाँ मुझे पहूँचना है, यह अन्तर्मुख उपयोग हैं। वह अन्तर्मुख वृत्ति सर्वसंग-परित्याग से भी हो नहीं सकती। 'सर्वसंग-परित्याग कर के निकल पड़ने से भी जीव उपाधि रहित नहीं होता।' (श्री.रा.प.-६७७) यह अन्तर्मुखवृत्ति रखनी इस काल में मुश्किल है। यह किए बिना छुटकारा नहीं। इसका कुछ माहात्म्य लगे तो अन्तर्मुखवृत्ति हो। सद्गुरु, जिनदर्शन और जिनवाणी में जिसे विश्वास हो, उसे वस्तु प्राप्त होती है। सद्गुरु द्वारा जिनवाणी- जिनदर्शन समझे तो वस्तु प्राप्त होती है।

७. **प्रवचन समुद्र बिन्दुमां, ऊलटी आवे एम;**
पूर्व चौदनी लब्धिनुं, उदाहरण पण तेम।

समुद्र के एक बिन्दु में समुद्र की क्षार आदि सभी गुण आ जाते हैं। इसी तरह प्रवचन समुद्र के एक वचन में चौदह पूर्व आने की लब्धि जीव को सद्गुरु के योग से प्राप्त हो जाती हैं। पढ़ने न जाना पड़े। सभी शास्त्र हृदय में बस जाते हैं। 'पर प्रेम प्रवाह बढ़े प्रभु से, सब आगम भेद सुउर बसें।' जीव पुरुषार्थ करें तो आत्मा में अनन्त शक्ति है। लब्धियाँ प्रगट होती हैं। अभयकुमार के पास ऐसी लब्धि थी कि कोई एक अक्षर कहें तो सारी पुस्तक या पूरा मंत्र याद आ जाएँ। पढ़ने जाएँ तो कब पार आएँ? 'हूँ कोण छुं? क्यांथी थयो? शुं स्वरूप छे मारुँ खरुँ? कोना संबंधे वळगणा छे? राखूँ के ए परिहरुँ?' इसका विचार विवेक पूर्वक, शांत भाव से किया हो तो आत्मज्ञान के सब सिद्धान्त अनुभव में आ जाएँ। विच्छेद नहीं हुए। सब आत्मा में हैं। 'एगं जाणई से सव्वं जाणइ। जे सव्वं जाणई से एगं जाणई।'

'एक को जाने वह सर्व को जाने और सर्व को जानने का फल एक को जानना है।' जीव में योग्यता चाहिए तो अगम्य वस्तु भी सुगम्य हो जाती है। सद्गुरु के अभाव में योग्यता प्राप्त करनी हो तो कर सकते हैं। फिर सद्गुरु मिलें तो झट काम हो जाए।

८. विषय विकार सहित जे, रह्या मति ना योग;
परिणामनी विषमता, तेने योग अयोग।

सद्गुरु का योग मिलें पर पाँच इन्द्रियों के विषय में विचार रहे, उनकी चाहना रहे विषय अच्छे लगें,परिणाम विषयी रहें तो धर्म करते हुए अधर्म हो और योग हुआ हो तो वह निष्फल जाएँ। अतः सर्वप्रथम इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य करना है। ये विषय अनादि के शत्रु हैं। स्वरूप भुलाने वाले हैं। इन में ही रहे तो कल्याण न हो। इन विषयों के कारण विषमभाव होता है। सारे जैन धर्म का आधार परिणाम पर है। पाँचों विषयों में राग-द्वेष न होने की योग्यता जिसमें नहीं, उसे योग मिला हो, तो भी अयोग है। अतः विषय जीतो।

९. मंद विषय ने सरळता, सह आज्ञा सुविचार
करुणा कोमळतादि गुण प्रथम भूमिका धार।

जिसने पाँच इन्द्रियों के विषयों को मंद किया हो; कपट, दम्भ करने की इच्छा न करता हो, जैसा हो वैसा प्रगट करता हो, बगुले की तरह देखाव न करता हो, ऐसे सरल जीव को गुण ग्रहण करने की इच्छा होती है। जिसे गुण दिखाने की इच्छा होती है, उसे गुण ग्रहण करने की इच्छा नहीं होती। जो गुण ग्रहण की इच्छा रखता है, सरलता रखता है, ज्ञानी की आज्ञा अनुसार चलता है। आत्मविचार करता है। दिल में दया-करुणाभाव हो उसे अपनी आत्मा की दया आती है कि अनादि काल से भटक रहा है, अब उसे मोक्ष में ले जाऊँ। आत्मा का अन्य कोई कर देने वाला नहीं। कोमलता अर्थात् मान का अभाव, 'मैं बड़ा हूँ ' ऐसा मान न हो, ज्ञानी के वचन हृदय में द्रढ़ हो जाएँ। 'वाल्यो वळे जेम हेम।' उसे ज्ञानी के वचन हृदय में द्रढ़ हो जाते हैं। मान हो उसे कुछ नहीं होता। यह योग की प्रथम भूमिका है।

१०. रोक्या शब्दादिक विषय, संयम साधन राग;
जगत इष्ट नहि आत्मथी, मध्य पात्र महाभाग्य।

इन्द्रियों के विषयों को जीतनेवाला जितेन्द्रिय है। इन्द्रिय राग टले तो संयम में राग हो। 'सर्व भाव से विराम पानेरूप संयम है।' (श्री.रा.प-८६६) सबसे विराम पाकर वृति आत्मा में मुड़े। जगत में से इसे कुछ नहीं चाहिए। **'सकल जगत ते ऐंठवत्।'** जगत जूठ जैसा लगे। आत्मा से सब हीन लगें। यहाँ तक आएँ तो मध्यम पात्र, महा भाग्य कहलाएँ।

११. नहि तृष्णा जीव्यातणी, मरणयोग नहीं क्षोभ;
महापात्र ते मार्गना, परम योग जितलोभ।

जीवन की तृष्णा जिसे नहीं रही। मृत्यु आने का भय मन में न हो कि मुझे मरना पड़ेगा। क्षोभ न हो। आत्मा अमर है, ऐसा जिसे द्रढ़ हो जाएँ वह आत्मा में ही रहता है। मोक्ष के उपाय में ही रहता है। ज्ञान, दर्शन, समाधि जिसके हृदय में है। वह महापात्र है। समभाव आएँ तो यह बने।

२-२ **आव्ये बहु समदेशमां, छाया जाय समाई;**
आव्ये तेम स्वभावमां, मन स्वरूप पण जाई। १
ऊपजे मोह विकल्प थी, समस्त आ संसार;
अंतर्मुख अवलोकतां, विलय थतां नहि वार। २

सपाट जमीन हो और सिर पर सूर्य आएँ, तो छाया समा (छुपा) जाती हैं। इसी तरह जीव आत्म स्वभाव में आएँ तो मन मर जाता है। ऐसा न हो तब तक मोह के विकल्प होते हैं। इसी से सारा संसार है। विकल्प छूटें तो बंधन न हो, आत्मा का अनुभव हो। अंतर्मुख अवलोके तो मन के सब संकल्प-विकल्प शम जाते हैं। योगीओं की इच्छा :-

(३) सुखधाम अनन्त सुसंत चही, दिन रात्र रहे तद्ध्यानमहीं;
परशांति अनन्त सुधामय जे, प्रणमुं पद ते वर ते जय ते।-१-१

अनन्त सुख का धाम आत्मा, इसके सिवा कुछ चाहते नहीं। इसीकी ही भावना में रात दिन रहते हैं। यह परमशांत है। अनन्त शान्तिमय

अमृतस्वरूप आत्मा है। इसी में ही रात दिन ध्यान में रहते हैं। इस उत्तम पद को मैं प्रणाम करता हूँ।

श्री.रा.उपदेशछाया-५ (१४९) बो.भा.-२ : पृ.-३७९

देह की अपेक्षा आत्मा का ख्याल रखो। इस मानव भव में यह ही करना है। आत्मा के काम में ढ़ील मत करना। देह कब छूट जाएँ, पता नहीं। अज्ञान और प्रमाद महा शत्रु हैं। इनसे ड़रो। प्रमाद अर्थात् आत्मस्वरूप से चूकना और अज्ञान अर्थात् 'देह मैं हूँ' ऐसा मानना। अनन्तकाल से 'मैं कौन हूँ'? यह मालूम नहीं।

"छे देहादिथी भिन्न आतमा रे, उपयोगी सदा अविनाश;

एम जाणे सद्‌गुरु उपदेशथी रे, कह्युं ज्ञान तेनुं नाम खास।"

इस ज्ञान के अभाव में अज्ञान है। मन-वचन-काया जड़ पर वस्तु है। उन्हें अपना मानता है। पर वस्तु की महत्ता लगे तब प्रमाद होता है। सामान्य प्रमाद तो धर्म की अनादरता, उन्माद, आलस आदि हैं। विषय, कषाय, विकथा, निद्रा और काम ये पाँच प्रमाद हैं। इनके उत्तरभेद बहुत हैं। प्रमाद में जीव का सारा जीवन चला जाता है। अनन्त शक्ति का धनी आत्मा को भूल जाता है। 'क्षण क्षण में पलटाती स्वभाव वृत्ति नहीं चाहिए।' प्रमाद के वश मत होना। 'पँच प्रमादे न मळे, मन नो क्षोभ जो।' कर्म के उदय से प्रमाद आता है किन्तु इसमें लीन न बनो। मनुष्य भव में जितना बने, उतना कर लेना चाहिए। धर्म सुनने की, धीरज रखने की, गुण प्रगटाने की जीव को जरूरत है। समझ आएँ तब सारा जगत पागल जैसा लगता है। बिचारे जीव कर्म के आधीन हैं, ऐसी दया करना पर क्रोध न करना। स्मरण करने की आदत ड़ालें तो सब हो। स्मरण का अभ्यास बढ़ाना चाहिए। ज्ञानी ने संसार पार करने का साधन बताया है। जीव बलवान बने, पुरुषार्थ करें तो कर्म हटें। देह की जितनी चिन्ता है उससे अनन्त गुणी चिन्ता आत्मा की चिन्ता रखना, क्योंकि देह तो नाश होने वाली है और आत्मा त्रिकाल में रहने वाली वस्तु है। दृष्टि बदलें तो सब सरल हो।

जीव सत्पुरुष के पास आएँ तो एकदम परिवर्तन होता है। पर वह भाव टिका रहे तो मोक्ष हो जाएँ। इस काल में आराधक जीव कम हैं। अतः संस्कार पड़ने में देरी लगती है। इस लोक की अल्प भी सुखेच्छा न रखना। परिपूर्ण सुखी स्वयं को मानना। आत्म स्वरूप में कोई कमी नहीं। त्याग में सुख है, ग्रहण में नहीं। जगत का कुछ नहीं चाहिए।

मुमुक्षुः- नींद बहुत आती है।

पूज्यश्रीः- संसार का भय लगें तो न आएँ। जैसे कोई फिसलने के स्थान पर खड़ा हो और पवन चालू हो तो कितना सावधान रहता है कि कहीं गिर न जाँऊ। वैसे ही यह जीव फिसलने के स्थान पर खड़ा है। गिरे तो फिर ठिकाना नहीं। गढ़े में भी गिर सकता है। रात को शांति का समय है। उस में विचार करें तो कितनी शान्ति मिले? मुर्दे की तरह पड़े नहीं रहना। बिछाने को कठिन रखें तो नींद कम आएँ, जागृति रहे।

सम्यक्त्वी को हर्ष-शोक की वृत्ति उठे तो तुरन्त दबा देने वाली जागृति उस की होती है। ज्ञानी के वचन कंठस्थ करता है, पर यही मुझे करना है, यह दृढ़ निश्चय करके आचरण में लाएँ तो काम हो। कृपालुदेव सारा दिन काम करते। इतनी सारी उपाधि होने पर भी समाधि रखते। आत्मा कोई बाहर नहीं गया। जिसे समझ नहीं, उसे मुश्किल लगता है। अनुभव, लक्ष्य, प्रतीति ये तीन वस्तु कहीं हैं। अनुभव में न हो, लक्ष्य में न हो, तथापि सम्यक्त्वी को प्रतीति रहती है। मिथ्यात्व के उदय से जो कर्म बँधते थे, वे सम्यक्त्वी को अब नहीं बँधते। ज्यादा परेशानी तो मिथ्यात्व कराता है। यह मिटे तो समाधि हो। बहुत समझने की वस्तु है। जब से सच्ची समझ आएँ तब से सच्चा त्याग अन्दर से प्रगट होता है। चाहे कितनी भी सम्भाल लो पर देह कहाँ टिकने वाली है? जिसकी जितनी किंमत हो उससे ज्यादा किंमत करनी नहीं। जो भी करना हो, आत्मार्थ के लिए करना। ममत्व न हो तो खेद नहीं होता। आत्मा सिवा सब नाशवंत हैं; अतः पहले से ही सब ममत्व छोड़कर सावधान रहना। जगत के पदार्थों में तीतली की तरह जीव जा कर गीरता है, पर महात्मा के प्रति मोह ही

नहीं आया! तेरा बुरा करें, उसका भला करो। यही वस्तुतः विनय है। अपनी निन्दा करने वाले के प्रति भी दासत्व भाव रखना।

श्री.रा.उपदेशछाया-६ (१५०) बो.भा.-२पृष्ठ-३८१

प्रश्नः- पाँचों इन्द्रियाँ वश कैसे हों?

उत्तरः- वस्तुओं के प्रति तुच्छ भाव लाने से पाँच इन्द्रिया वश होवें। पहले जिह्वा इन्द्रिय वश करना। वाद में सब इन्द्रियाँ सहज में वश हो जाती हैं। इसे आहार कम देना। रस वाला आहार न देना। यह वस्तु अच्छी है, खा लूँ, ऐसा न करना। बहुत अच्छी शिक्षा है। इन्द्रियों को वश करने का दृढ़ निश्चय अभी किया नहीं। वैराग्य हो, तो बने। इन्द्रियों को उन्मत्त करने वाला आहार है। इन्द्रियों को बल मिले तो शैतानी किए बिना रहेगी नहीं। इन्द्रियों से मन को असर होता है। उससे कर्म बंध होता है। वस्तु का विचार करें तो वैराग्य सहज हो। देह का स्वरूप अशुचिमय है। ऊपर से चमड़ी अच्छी देख कर जीव मोह करता है। वस्तु का गहन विचार नहीं करता। ऊपर ऊपर से विचारें, यह तो जीव की भूल है। शरीर का स्वरूप अंदर से कैसा है? यह विचार करें तो इन्द्रियों से जीव वापिस हटे, इसके लिए ज्ञानी का बोध है। बोध से यथार्थ विचार होता है। शरीर अपवित्र नहीं लगता, इस के लिए अशुचि भावना विचार के मोह कम करना। आत्मा के बिना तो शरीर मुर्दा है।

पूज्यश्रीः- पाँच इन्द्रियो द्वारा जीव के कार्य से कर्म बंध है। पाँच इन्द्रिया वश कैसे हो, यह पुछने की इच्छा होती है?

मुमुक्षुः- ना

पूज्यश्री :-पाँचो इन्द्रियाँ मुझे कर्म बंधाती हैं, दुःख देती हैं। इनके वश होता हूँ यह मेरा दोष है। ऐसा जिसे लगे वह सद्गुरु से पूछता है, उत्तर मिले तो उसे शान्ति होती है। 'आत्मा से सब हीन।' आत्मा की महत्ता लगे तो सब पदार्थ तुच्छ लगें। फिर इन्द्रियाँ इसे दुःख नहीं देती। एक-एक इन्द्रिय के वश हो कर जीव प्राण गँवाता है। सब वस्तुओं पर तुच्छ भाव आएँ तो इन्द्रियाँ वश हों। यह शरीर तुच्छ वस्तु है। सब क्षणिक

वस्तुओं में कल्पना करके जीव ने सुख माना है, पर सुख तो आत्मा में है। दूसरी कोई वस्तु सुख नहीं दे सकती। पाँचों इन्द्रियाँ वश करना हो तो पहले जीभ को वश करो। इसे जीतने का ज्ञानी पुरुष पुरुषार्थ करते हैं। जो जो अच्छा लगता हो, उसका त्याग करे तो हों। कई लोग इस तरह नियम करते हैं कि आज मुझे मिठाई नहीं खाना। दूसरे दिन घी नहीं खाना। तीसरे दिन मिर्च नहीं खाना। इस तरह सब कसरत करते हैं। इन्द्रियाँ वश न की हों तो जीव को नरक में ले जाने वाली हैं। इन्हें वश करें तो मोक्ष हो। मन जीतने का उपाय, इन्द्रिय विजय है। इन्द्रियों को बलवान बनाने वाला पौष्टिक आहार है। वह खुराक कम मिले तो इन्द्रियाँ ढ़ीली पड़ें। ज्ञानी का बताया उपाय करने से इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं।

प्रश्नः- तुच्छ आहार क्या होता है?

पूज्यश्रीः- जिससे सब इन्द्रियाँ वश हो। साधर्मी वात्सल्य में खाने गएँ तो दाल-चावल खा कर उठ जाओ। मन माँगे, वह उसे नहीं देना। एक जीभ जीती जाएँ तो सब इन्द्रियाँ जीती जाएँ। जीभ सब को पोषण देती है। इसे जीतने का पुरुषार्थ करना।

उपवास करते समय लक्ष्य रखो कि किस लिए उपवास करना? इन्द्रियों को वश में करने का लक्ष्य रखना चाहिए। वह नहीं रहता। अपनी कोई प्रशंसा करे तो खुश नहीं होना। लौकिक भाव से आत्म कल्याण नहीं होता। अपने दोष देख कर निकालना हैं। अहँकार रहित होने के लिए सब शास्त्र कहे हैं। देह की इच्छा से जीव सुख चाहता है, तो कैसा सुख मिलेगा? आगे क्या होगा?

मुमुक्षुः- तो क्या देह को दुःखी करना?

पूज्यश्रीः- यह तपस्वी को पूछो। मौत सिर पर है, अतः सावधान रहना है। निगोद में भी जीव कितनी ही बार हो आया है। यह देख कर ज्ञानी को दया आती हैं। निःस्पृह पुरुष हो वह कड़वी दवा देता है। अन्य तो बड़ी बड़ी बातें ही करते हैं। सत्य ज्यादा असर करता है।

मुझे आत्मा का कल्याण करना है, यों निश्चय करे तो कर्म हटें। एक मुनि गुफा में ध्यान करने जाते थे। सामने शेर मिला। मुनि के पास लाठी थी वह उठाने की सूझी। तुरन्त विचार आया, "हे जीव ! मरना तो एक ही बार है, तो क्यों ऐसा करता है?" यहीं चुपचाप खड़ा रहा और आत्मा का विचार किया। ऐसा निश्चय कर के खड़ा रहा तो केवलज्ञान हुआ।

श्री.रा.उपदेशछाया-७ (१५१) बो.भा.-२ : पृ.-३८२

शरीरकी पराधीनता नहीं, तब तक धर्म कर लेना चाहिए। चारों तरफ दुःख खड़ा हो, तब चित्त स्थिर रहना मुश्किल है। कृपालुदेव के वचन वाँचो, विचारो तो तपस्या से भी ज्यादा लाभ है। समझ आने के बाद जो भी करो, लाभ के लिए है। वचन विचारने से समझ आती है। उपाधि न हो तब जीव को ठीक लगता है, पर उपाधि से भाव उठे तब अधिक आनन्द आता है। आत्मा आनन्दस्वरूप है। खाना-पीना आदि सब कर्म हैं। क्रिया की प्रवृत्ति करते हुए शुभाशुभ भाव की निवृत्ति करनी है।

जेम शुभाशुभ कर्मपद, जाण्यां सफळ प्रमाण;
तेम निवृत्ति सफळता, माटे मोक्ष सुजाण। ८९ आ.सि.

अनन्त काल से जीव शुभाशुभ भाव करता है। तब तक इसे शुद्ध भाव दिखता नहीं। चित्तस्थिरता की जरूरत है। 'त्याग विराग न चित्तमां, थाय न तेने ज्ञान।' जीव को ग्रहण कर कर के सुखी होने की इच्छा है। पर ज्ञानीपुरुष कहते हैं कि त्याग में सुख है। उपाधि कम करने से सुख होता है। त्याग न बने तो त्याग की भावना रखना। शरीर त्याग नहीं सकते किन्तु इस के प्रति दृढ वैराग्य रखना। कसौटी आने पर ढ़ीला न होना। मरण आने पर सब छोड़ना है, तो पहले से ही त्याग देना। जड़ को जड़ और चेतन को चेतन जाने तो सहज ही वैराग्य रहे। वैराग्य न होने से आत्मा तरफ वृत्ति मुड़ती नहीं। बहुत खाया, बहुत पिया, पर आत्मा का कल्याण हुआ नहीं। वैराग्यमें वृत्ति रहे तब जीवका काम होगा। वैराग्य, अनंत सुख में ले जाने वाला उत्कृष्ट भोमिया (मार्गदर्शक) है।

त्याग में छूट रखी हो, तथापि ज्ञानी की आज्ञा से उपयोग में लेना। कभी कभी अच्छे भाव आते हैं तो त्याग होता है, पर जीव बाद में ढ़ीला हो जाता है।

श्रावक अर्थात् जिसे मुनि बनने की भावना है। साधुता पालने की शक्ति मेरे में नहीं, अतः मैं श्रावक हूँ। भावमुनि ऐसे रहते हैं। श्रावक रोज सुबह उठ कर विचार करे कि मैं पाँच महाव्रत कब प्राप्त करुँगा? पाप से मैं कब छूटूँगा? मुझे समाधि मरण करना ही है। ये तीन मनोरथ रोज चिन्तन करे। आरम्भ अर्थात् जिसमें पाप हों ऐसे काम। मेरा-मेरा यह परिग्रह है। माया शल्य, मिथ्यात्व शल्य और निदान शल्य ये तीन शल्य हैं। इन में से एक भी हो, तो सच्चा व्रत नहीं होता। श्रावक धर्म पालना मोक्ष का मार्ग है। पर मायाचार करने वाले के व्रत नियम सही नहीं होते। सच्चे धर्म की आराधना करनी हो, तो मायाचारसे दूर रहना। आत्मा के लिए सब करना है।

मायाचार से लोग धर्म करते हैं, इससे धर्मकी निन्दा होती हैं। छूटना हो तो यह सब छोड़ना है। साथ में कुछ नहीं आता। शुभाशुभ भाव भी छोड़ना है। कर्म को छोड़ने जाएँ तब कोई न कोई कर्म सामने (बीच में) आता है। ज्ञानीपुरुषों का उपदेश है कि माया से ठगे नहीं जाना। अहंकार भी साथ में झट झट खड़ा हो ऐसा है। माया को जीतने के लिए भक्ति चाहिए। भक्ति हो, तो माया नहीं होती। भक्ति में चित्त रहे तो जीव माया में नहीं जाता। भक्ति में तो दीनता है। भगवान सर्वोपरी है। मैं दीन हूँ, यों होता है। सच्ची भक्ति हो, वहाँ माया नहीं होती। श्रवण करना, भक्ति है। दासत्व भाव भी भक्ति है।

आज्ञा में अहंकार नहीं है। राग-द्वेष टालने, इच्छाओं को रोकने के लिए तप करना। जनक विदेही राजपाट करते हुए भी गुरु में भक्ति वाले थे और अलिप्त थे। आत्मज्ञान हो तो सब सहज हो जाएँ। जब तक ज्ञानी को मन-वचन-काया से अर्पण न हो तब तक ममत्व नहीं जाता। काया भी मेरी नहीं तो फिर अहंकार किस बात का? मैं देह से भिन्न हूँ, इतनी समझ

हो तो अहंकार मिटे। ज्ञान के साथ वैराग्य रहे तो वह सच्चा ज्ञान है। ऐसा सच्चा ज्ञान संसार में भी रह सकता है।राम को इतना अधिक वैराग्य था कि संसार से एकदम उदासीनता हो गई थी। इसलिए कहा कि मुझे शान्ति हो, ऐसा कुछ बताओ। तब तक खाना नहीं, पीना नहीं, श्वास भी नहीं लेना। तब वसिष्ठ ऋषिने उपदेश देकर शान्त किया। फिर राम ने राजपाट सर्वस्व देना चालू कर दिया, पर गुरुने कहा अज्ञान छोड़ो। 'सर्व क्लेश से सर्व दुःख से मुक्त होने का उपाय एक आत्मज्ञान है।' (श्री.रा.प.५६९) ज्ञानी गृहस्थावास में हो तब तक मार्ग बताते हैं पर उपदेश नहीं देते।

ज्ञानियों का अन्तर तो बहुत विशाल है। उसका विचार करने से सम्यक्त्व हो सकता है। ज्ञानी अंतर में निर्ग्रंथ हैं, विरति है, इसलिए गृहस्थावस्था में भी निर्ग्रंथ है। तीर्थंकर भी गृहस्थावस्था में मार्ग नहीं चलाते। ज्ञानी पुरुष अर्थात् जिन्हें आत्मज्ञान हो गया है वे उपाधि में भी समाधि में रहते हैं। अंतर में उन्हे विरति होने पर भी राजमार्ग का उल्लंघन नहीं करते। त्याग करके त्याग कराएँ तो उचित है, यह राजमार्ग है। इससे किसी को शंका नहीं होती। ज्ञानी को शिष्य नहीं बनाना हैं। इसकी निस्पृहता की छाप पड़ती है। गृहस्थावस्था में ज्ञानी धर्म की बात न करें, ऐसा नहीं, कभी करे भी। योग्य जीव को ज्ञानी योग्य बोध देते हैं। वासित बोध अर्थात् मोह वाला बोध संसारी को अच्छा लगता है।

मोही जीव साधु बनने के बाद भी, मैं बनिया हूँ, यह हूँ, आदि जाना मुश्किल है। गोचरी जाएँ तब अमुक के घर जाऊँ तो अच्छा, यों रहता है। आत्मा बनिया नहीं, ब्राह्मण नहीं, स्त्री नहीं, पुरुष नहीं; आत्मा आत्मा ही है। मैं देह नहीं, ऐसा होने पर देह के सब संस्कार छूट जाते हैं। सब देह के आधार पर है। मैं देह हूँ यह भाव रहे तब तक मैं जवान हूँ, मैं बुढ्ढा हूँ इस तरह रहता है। कर्म को शर्म नहीं। कर्म किसी को नहीं छोड़ते। सब को भोगने ही पड़ते हैं।

मिथ्यात्व होने तक जीव पाँच इन्द्रियों के विषय में पड़ा है। अच्छा खाना, पीना, सूंघना, सुनना, चखना है; इस तरह राग-द्वेष करके पाप

बाँधता है। विषयों को तथा हिंसा आदि पाँच बड़े पापों को तो जीव याद भी नहीं करता और छोडता नहीं है। किन्तु संवत्सरी चौथ की करना, पंचमी की संवत्सरी करें तो पाप लगता है, ऐसी मिथ्या कल्पना करता है। जिसकी वृत्ति विराम पाई नहीं, पाँच इन्द्रियाँ और मन वश नहीं हुआ, छः काय की रक्षा नहीं करता, हिंसा आदि करता है, वह सब अविरति का वर्तन है। व्रत तो समकित होने के बाद आते हैं। उससे पूर्व अपनी योग्यता बढ़ाने के लिए व्रत नियम करें तो अनुचित नहीं है। जीव को देहाध्यास है। 'वचन मैं हूँ, देह मैं हूँ' ऐसा हुआ है। देह अपवित्र है, उसे पवित्र मानता है। अनित्यको नित्य मानता है, यह उल्टी समझ छूटें तो मिथ्यात्व छूटें। क्षण-क्षण आत्मा का काम करने के लिए मानव भव मिला है। एक समय का प्रमाद करने की भगवान ने गौतम को ना कही है। हम तो सारा दिन प्रमाद में बिताते हैं। प्रमाद का राज्य चलता है। जगत में सब बातें करते हैं कि कितनी तपस्या हुई, पर कृपालुदेव कहते हैं कि पहले मिथ्यात्व निकालो, तप की बात बाद में। सत्पुरुष मिलने पर भी प्रमाद हैं कि "बाद में करूंगा।"

श्री.रा.उपदेशछाया-१३ (१५२) बो.भा.-२ : पृ.-३९१

कषाय मंद हो तो धर्म होवें। कषाय की वृद्धि करें तो सब अज्ञान है, करे कषाय, माने धर्म। तपा-ढूंढिया अनादि काल से नहीं है। वीतराग मार्ग ही अनादि का है। राग-द्वेष और अज्ञान मिटाने का मार्ग अनादि का है। इन्हें कम करे तो कल्याण होवें। ज्ञानी के मार्ग की आराधना करने के लिए मुनिजन सब शास्त्र सीखते हैं, पुनरावर्तन करते हैं। जिससे समय का सद्उपयोग सहज होता है, कुछ साधुलोग शास्त्र का अभ्यास नहीं करते और झट गोचरी के लिए चले जाते हैं, सो ठीक नहीं। राग-द्वेष और अज्ञान जाने के लिए सद्गुरु का बोध और सद्विचार है। विचार न करें, उसे संसार पार होने का मोका नहीं मिलता। सिर्फ श्रवण करें और विचार न करें तो निष्फल है। "माषतुष-माषतुष" करते मुनिने विचार किया कि भिन्न क्या है?(माष=उड़द, तुष=छिलका) दोनों वस्तु अलग है, इसी तरह आत्मा और देह अलग है। ऐसा करने से केवलज्ञान हुआ।

संयोगों को भोगे बिना छुटकारा नहीं। बाह्य त्याग भी अन्तर्त्याग के लिए है। आत्मा का कोई कर्तव्य नहीं। अकर्तव्य दशा पाने के लिए त्याग करना चाहिए। आत्मा तो अकर्ता है। किसी जगह व्यवहार संयम का निषेध किया है। मेरु पर्वत जितने मुंहपत्ती-ओघे किएँ, यह जो कहा वह निषेध के लिए नहीं, पर परमार्थ संयम पाने के लिए है। ज्ञानी का आशय समझना, श्रुतज्ञान है। वस्तुतः आत्मा को आत्मा स्पर्श करती है। अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुख की श्रद्धा नहीं। "दृश्य को अदृश्य किया, और अदृश्य को दृश्य किया, ऐसा ज्ञानियों का आश्चर्यकारक अनन्त ऐश्वर्य वीर्य वाणी से कहा जा सकने योग्य नहीं है।"(श्री.रा.प.६४८) पाँच इन्द्रियाँ और मन रुके तब आत्मा का भान होवें। अल्प संसारी को कषाय भी अल्प होते हैं। मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व में रुचि करना है।

श्री.रा.उपदेशछाया-१४ (१५३) बो.भा.-२ : पृ.-३९१

संसार तेरन (पार करने) का कामी वह है कि सिर माँगे तो दे दे। श्रद्धा परम दुर्लभ में दुर्लभ है। ज्ञानी जानते हैं कि शास्त्र किस लिए पढ़ना। जहाँ तहाँ से हितकारी वस्तु ग्रहण करना।

सत्पुरुष की देह सत्पुरुष नहीं, पर सत्पुरुष की आत्मा सत्पुरुष है। यह लक्ष्य रहे तो श्वेताम्बरी या दिगम्बरी कोई आग्रह नहीं रहता। महावीर प्रभु का गर्भ हरण हुआ होगा या नहीं? इसकी क्या जरूरत है? चाहे कहीं से भी भगवान आएँ, पर ज्ञान-दर्शन-चारित्र थे या नहीं? यह विचार करना। क्षत्रिय हो या ब्राह्मण, पर सम्यक्दर्शन है या नहीं? यह देखना है।

संसार की जरूरत हो तो पुण्य तरफ नजर रखना। मोक्ष चाहिए तो पुण्य-पाप दोनों दूर करने पड़ेंगें। पुण्य का सुख ऊपर से दिखता है, अतः लोग उसे सुखी कहते हैं, पर अंतर में तो दुःखी है। ममता से सारा भव हार जाते हैं। पुण्य जब दुःखरूप लगेगा तब समझ आई कहलाएगी।

'जो होय पूर्व भणेल नव पण, जीवने जाण्यो नहीं;
तो सर्व ते अज्ञान भाख्युं, साक्षी छे आगम अहीं।'

ज्ञानी तो समझाएँ पर जीव न बदले तो ज्ञानी क्या करें? मिथ्यादृष्टि जीव दीक्षा लेता है, तप करता है, सब पुण्य के लिए करता है। अभविको छूटने की मान्यता भी नहीं होती। एक शब्द परिणाम पाए तो बहुत है। एक मंत्र परिणमे तो बहुत है।

मेरु आदि की बातों में जीव जाता है। किस लिए वर्णन है? वह पता नहीं। लोकसंस्थान धर्मध्यान कहा है। इसी तरह मेरु आदि को विचारे तो धर्मध्यान हो। यह सुन कर ममता न करना। धर्म की बातों में वृत्ति रहे तो कल्याण हो। जगत का स्वरूप जान कर वैराग्य हो और ममता छोड़े तो मुक्ति हो।

कृपालुदेव कहते थे कि हमारा उपदेश तो जिसे सुन कर कुछ करना हो उस के लिए है। जिस लक्षण से आत्मा पहचानी जाती है, ज्ञानादि तो आत्मा का धर्म है, उसका तो जीव विचार नहीं करता। आत्मा की संभाल लेनी है। सब परिग्रह जीव इकट्ठा करता है, वह साथ में नहीं आनेवाला। अतः आत्मा के साथ आएँ ऐसा कुछ करके जागृत होना है। जीव और कर्म का अनादि का संग है वह कुसंग है। कुसंग छोड़ना है। वह सत्संग विना न छूटे।

ज्ञानी कहते हैं कि जीव मूर्ख है, पर जीव स्वयं को बुद्धिशाली मानता है। स्वयं को मूर्ख माने तो ज्ञानी का कहा करें। जीव रजाई ओढ़कर सोया हो तो लाठी मारो तो आवाज आएँ, पर इसे कुछ लगता नहीं, इससे उल्टा वह खुशी होता है। जो पतली चादर ओढ़कर सोया हो उसे चोट लगती है, इससे फटाक् से खड़ा हो जाता है। उसी तरह जीव को अपने दोष दिखते नहीं। ज्ञानी स्पष्ट कर के दिखाते हैं, तो भी जीव मानता नहीं। माने तो काम हो जाएँ। मनुष्यभव की पूंजी का सदुपयोग नहीं। व्यापार करना जानता नहीं। इसे पता नहीं लगता, पर सत्संग में इसका काम हो जाता है।

जीव ने जड़ और चेतन सब एक कर ड़ाला है। जगत के काम में जैसे सावधानी रखता है, वैसे धर्म के काम में भी रखनी चाहिए। सर्व भाव

अर्पण करके मन, वचन, काया सब अर्पण करके, फिर ज्ञानी की आज्ञा में ही रहे तो संसार रहता नहीं। 'यह देहादि आज से वर्ते प्रभु आधीन।' विनय समझे तो भाग्यशाली कहलाएँ।

एवो मार्ग विनय तणो, भाख्यो श्री वीतराग;
मूळ हेतु ए मार्गनो, समझे कोई सुभाग्य। २० आ.सि.

'उत्तराध्ययन सूत्र' में पहला अध्ययन विनय नामक है। विनय करने से लब्धि प्रगट होती है। धर्म में मतभेद डालने वालों की बुरी गति होती है। मरण को जीव भूल जाता है, इस से बारंबार शास्त्र में कहना पड़ा है की प्रत्यक्ष दूसरों को मरते हुए जीव देखता है, तथापि मृत्यु को भूल जाता है।

श्री.रा.प.-९५८(१) (१५४) बो.भा.-२ : पृ.-३९३

अज्ञान भाव सारे संसार का मूल है। वह यदि छिन्न हो जाएँ तो मोक्ष हो जाएँ। स्वरूप का भान नहीं। घर मेरा, शरीर मेरा, इस तरह पर को अपना माने वह मिथ्यात्व या अज्ञान है। पर के द्रव्य-गुण-पर्याय को अपना मानता है। जड़ और चेतन इसके भाव में दोनों एकरूप हो गए हैं। इसका भेद पड़े तो ग्रन्थि-भेद सम्यक्ज्ञान हो। ग्रन्थि है पर जीव को चुभती नहीं। अज्ञान भाव पलटे तो ग्रन्थिभेद हो। अज्ञान, भ्रान्ति यही महा मोह है। ग्रन्थिभेद होते समय कई बार साधक गिर जाते हैं। इस से आगे बढ़े तो मोक्ष हो। वहीं का वहीं रहे और धक्का मारने वाला न रहे, तो आगे नहीं बढ़ता। अतः वापिस गिर जाता है क्योंकि अनादि का अभ्यास है। उस समय मोह जोर करता है। जिस तरह दीपक बुझते सम्य भभक दिखती है, वैसे ही मोह भी जाते जाते जोर कर के जाता है। ग्रन्थिभेद के नजदीक आकर भी जीव वापिस मुड़ जाता है। ग्रन्थिभेद होने को आए तब जीव वापिस हो जाता है।

'प्रेरक अवसर जिनवरु, सखी देखण दे;
मोहनीय क्षय जाय रे, सखी देखण दे।'

उस समय कोई प्रेरक मिले तो काम हो जाएँ। प्रेरक होने पर भी बल तो स्वयं को ही करना पड़ता है। महापुरुषों के वचन जीव को धक्का लगाने वाले होते हैं। उनका अवलम्बन हो तो समकित होता है। जिसने प्रमाद को शत्रु माना है, वह निर्भयता से रहने का स्वप्न में भी नहीं चाहता। प्रमाद शत्रु है, पर लगता नहीं। अनन्त काल में न हुआ वह काम करना कठिन है। बहुत शत्रु हैं, वे खींच लेते हैं। हो जाएगा, हो जाएगा, यों करते हैं। जब तक मोह का क्षय न हो, तब तक ज्ञानी शान्ति से नहीं बैठते। अनन्त बार जीव ग्रन्थिभेद के समीप आकर वापिस गया है। सब कठिनाइयाँ सह कर मरणिया (शूरवीर) बन जाए तो काम हो सकता है। ग्रंथिभेद होने बाद चौथे गुणस्थानक में जीव आता है। गाय के सींग पर राई का दाना रहे, उतने समय तक भी यदि सम्यक्त्व की स्पर्शना हुई तो देर से या जल्दी मोक्ष में ले जाएगी। चौथे गुणठाणे आएँ उसकी दशा बदल जाती है। ज्ञानीने कर्म देख कर गुण-ठाणा कहा है। चौथे में मोक्ष मार्ग स्पष्ट समझ आता है।

"वेद्य बंध शिव हेतु छे जी, संवेदन तस नाण;
नयनिक्षेपे अति भलुंजी, वेद्य संवेद्य प्रमाण।"

दीपक के प्रकाश की तरह बोध स्पष्ट लगता है। विरला ही जीव ग्रंथिभेद करके आगे बढ़ता है। चौथे आत्मज्ञान है, पर व्रत आदि की दशा नहीं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र ये तीनों वस्तु आत्मा का अनुभव होने पर अंश मात्र होती हैं, पर यह बीजरूप है। अनन्तानुबंधी जाने से स्वरूपरमणशक्ति प्रगट होती है। यह बीज है। अंतरंग में चौथे चारित्र होता है। यह अविरति गुणठाणा है। फिर जब व्रत का उदय हो, तब इसे चरणानुयोग में चारित्र कहा है। सम्यक्त्व हुआ इससे नींव मजबूत हुई है। मोक्ष सिवा दूसरी चाहना नहीं है। लोगों को दिखाने के लिए वह चारित्र नहीं लेता। जब से समकित हुआ तब से मोक्ष की और मोक्ष के साधन की इच्छा होती है, पर शक्ति न होने से व्रत ले नहीं सकता। शक्ति बढ़े, त्यों त्यों व्रत लेता है। व्रत लेने वाले कोई सम्यक्दृष्टि कहते हैं कि देशविरति में क्या लेना? लेना तो सर्व

विरति चारित्र लेना। ऐसे अड़िग होते हैं। सम्यक्त्व बिना आगे बढ़ा नहीं जा सकता। अपूर्व वृत्ति आने के बाद अप्रमतयोग होता है। सातवेंमें अंतर्मुहूर्त रहा जाए पर उसे सिद्ध के सुख का अंदाझ आता है। सब वस्तुओं में से हट्कर आत्मा में लीन होने पर सिद्ध के सुख का अंदाझ आता है। चौथे गुणठाणे वाले को सातवें गुणठाणे वाले की दशा समझ में आती है, अंश अनुभव में आती है। आत्मा का अनुभव होने बाद सातवें जा सकता है। चौथे गुणठाणे वाला कहता है कि मुझे मोक्ष जाना है और हम भी कहते हैं कि मोक्ष जाना है। वह तुलसीदास 'राम राम' कहे और एक तोता 'राम राम' कहे, इसके जैसा है। दोनों के भाव में अन्तर है। क्या करने से चौथे पहुँचा जाएँ? इसका विचार करो। देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा आसान नहीं। तोता अरिहन्त कहे, पर अरिहंत क्या है? उसे यह पता नहीं। उदासीनता, चौथे का लक्षण है। राम को जैसा वैराग्य था, वैसी दशा आनी चाहिए। उस दशा को पाने के लिए कहते हैं। मात्र सुनने के लिए नहीं कहतें।

दुःखादि आएँ और भोगने पड़े, वह अकाम निर्जरा है। तप आदि करके स्वयं दुःख सहन करे वह सकाम निर्जरा है। अकाम निर्जरा करते करते जीव संज्ञी पँचेंन्द्रिय हो कर ग्रन्थिभेद तक पहुँचता है। मन-वचन-काया का जितना बल हो, उतना कर्म बंध होता है। विपरीत मान्यता में, जीव जो दशा नहीं होती वह मान बैठता है, अतः मोह बढ़ जाता है। सम्यक्दर्शन मुझे हो गया है, ऐसा माने तो फिर त्याग-वैराग्य न बढ़ाएँ। चौथे गुणठाणेमें कैवल्यबीज, बोधबीज या सम्यक्दर्शन प्रगट होता है। सब क्लेश छूट कर घर में जाता है, उससे शान्ति होती है। सारे संसार का आधार देह है। जो अप्रमत है, वह मानो परमात्मा ही है। परमात्मा में लीन बने तब अप्रमत कहलाता है। सारे जगत को भूल जाएँ, तो अप्रमत कहलाएँ।

देह की प्रवृत्ति शुभाशुभ भाव से हो तो फिर शुभाशुभ कर्म बंध होता है। योग प्रवृत्ति कर्म आने का कारण है। सम्यक्त्व होने के बाद

अविरति, प्रमाद, कषाय, योग ये कर्म बंध के कारण ज्यों ज्यों कम हो, त्यों त्यों शुभ कर्म भी कम होते हैं। अशुभ तो मिथ्यात्व के जाते ही कम होते हैं। ऐसा करते करते जब कर्म का खाता पूरा हो, तब मोक्ष हो जाता है। संवर हो, तब वास्तविक निर्जरा होती है। अशुभ बंध न हो, तो सत्ता में से शुभाशुभ की निर्जरा होती है।

सम्यक्दर्शन बिना संवर कहाँ से हो? जैसे हाथी स्नान कर के ऊपर धूल डालता है, उसी तरह जीव की अकाम निर्जरा है। इससे जीव ग्रंथिभेद के नजदीक आता है। फिर इसे पुरुषार्थ करना पड़ता है। यह सब पर्याय दृष्टि से भिन्न दिखता है, वह सब द्रव्य दृष्टि से समान लगे तो भेद का भेद है।

क्रोध, मान, माया, लोभ में भी भेद है। किसीको अनन्तानुबन्धी, किसी को अप्रत्याख्यानावरण, किसी को प्रत्याख्यानावरण और किसी को संज्वलन होते हैं। ऊपर से सब क्रोध समान दिखते हैं, पर अन्तर में भेद हैं। अनंतानुबन्धी कषाय से अनन्त संसार बढ़ता है। बाहर से जो बहुत क्रोध दिखे, वह अनन्तानुबन्धी है ऐसा नहीं। मोक्ष मार्ग के कारणों के प्रति क्रोधादि करना, अनन्तानुबन्धी कषाय है। वीतराग के प्रति क्रोधादि, अनंतानुबंधी हैं।

भगवान महावीर ने चार के पाँच महाव्रत किए, वे जीवों के हित के लिए हैं। सम्यक्दर्शन होने से पूर्व मार्ग कहना, यथार्थ नहीं। यथाशक्ति कषाय कम करने चाहिए। भगवान से स्त्री-पुत्रादि की इच्छा, वह अनन्तानुबन्धी लोभ है।

आत्मा का अनुभव हो तब कषाय मंदादि होते हैं। पुद्गल के संग से जब तक जीव निमित्ताधीन है, तब तक विभाव रूप परिणमता है। इसमें पुद्गल का दोष नहीं। जीव ने आमंत्रण दिया है, इसलिए आएँ है, अन्यथा पुद्गलों को कोई अच्छा-बुरा लगता नहीं। पुद्गल के निमित्त से विभाव नहीं होता। यदि होता हो तो फिर सिद्ध भगवान के पास भी पुद्गल है, तो उन्हें भी विभाव होना चाहिए। जीव, पुद्गल को प्रेरणा करे तो आते हैं।

सच्चा बना तब से असंग होने लगता है। सत्य आने पर सब छोडने लगता है। अंदर से जो हो गया कि मेरा नहीं, तो छूटे ही। मत-मतांतर काँटें हैं। उनका समाधान न हो तो वहाँ न रूके, पुरुषार्थ करना। आगे समझ आएगी कि 'ज्यां शंका त्यां गण संताप; ज्ञान तहाँ शंका नहीं स्थाप।' यह अभी मत-मताँतर में भूल गया है। अपना किया सच्चा मानता है।

प्रथम गुणस्थानक में ही ग्रन्थि होती है। पाँच इन्द्रियाँ और मन प्राप्त हो, और अच्छे भाव होने पर सद्‌गुरु का बोध सुने तो देशनालब्धि प्राप्त हो। तब ऐसा लगता है कि ज्ञानी कहते हैं वह सत्य है और मैं करता हूँ वह गलत है। इससे कर्म मन्द पड़ते हैं। यहाँ तक तो जीव बहुत बार आया है। ग्रन्थिभेद करने की तैयारी में हो, वहाँ से वापिस उसे पटक कर दर्शनमोह, संसार में ले जाता है। कषाय, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यकृत्वमोहनीय, ये सात प्रकृत्तियाँ जीव को परेशान करती हैं। क्रोध आने पर जीव को होता है कि भले नरक में जाऊँ तथापि क्रोध तो करूँगा ही। मान-माया-लोभ आने पर विचार करता है कि यह तो मेरा धर्म है। पहले गुणठाणे से जीव चौथे जाएँ और वहाँ से गिरे तो दूसरे या पहले में आता है। ग्रन्थिभेद बिना सम्यक्त्व नहीं होता। चौथे गुणस्थानक में क्षयोपशम, उपशम या क्षायिक समकित होता है। जीवने पुण्य बांधने के योग से यह मानवभव पाया है, सत्पुरुष का योग पाया है, परन्तु जब प्रकृतियाँ क्षय करनी हों, तब जीव ढ़ीला पड़ जाता है।

प्रश्नः- कर्म तो जड़ है तो आत्मा क्यों ढ़ीला पड़ता है?

उत्तरः- नकेल जड़ वस्तु होने पर भी बैल को वश करती है? बैल को तो एक नकेल (नाथ) है। जीव को तो १५८ नकेल हैं। जीव ने आज तक कर्म की एक भी प्रकृत्ति नहीं तोड़ी।

ज्ञानी की आज्ञा का पालन करना। जो प्रकृत्ति हो, उसका विचार करना कि, मुझे क्रोध बहुत तंग करता है, माया तंग करती है, लोभ परेशान करता है। फिर निकाले, ऐसा करते करते समकित हो सकता है। 'लहे शुद्ध समकित ते, जेमाँ भेद न पक्ष।' समकित आएँ तो फिर अन्तर

की शुद्धि करना शुरु कर दे। सम्यक्‌दर्शन ऐसे ही नहीं आता। सात प्रकृत्ति को क्षय करें तो आता है।

श्रेणिक राजाने, अनाथी मुनि की बात मानी, मैं राजा होने पर भी अनाथ हूँ, आप सनाथ हो, दिमाग में ठस गया। आत्मा ही नरक में ले जाने वाली है, आत्मा ही मोक्ष में ले जाती है। इस तरह आत्मप्रकाशक बोध मुनि ने दिया, वह उसे बैठ गया और बोधि को प्राप्त किया। भगवान महावीर मिले तब क्षायिक समकित हुआ और तीर्थंकर गोत्र बांधा। अन्तर बदलना चाहिए। वह बदले तो देर नहीं लगती।

कृपालुदेव ने कहा है कि एक सूत्र कहते मोक्ष होता है। वैसे सूत्र अनेक बार कहने पर भी जीव नहीं जगता। जीव का अपना कुछ नहीं। मन, वचन, काया भी अपने नहीं, तो फिर बाहर दिखने वाला तो, कैसे अपना हो। ज्ञानी आग्रह छोड़ने को कहते हैं। भव्य जीव हो, वह सुन कर आग्रह छोड़ देता है। प्रभुश्रीजी कहते की 'लोक मूके पोक, तारुं कर' लेकिन जीव तो लोगोंको अच्छा दिखाने के लिए करता है, तो उसे वैराग्य कहाँ से हो?

मोहनीय कर्म मोह का है। मोह मंद पड़े तो सम्यकृत्व होता है। किसी किसी तिर्यंच को भी समकित होता है, पर उसे मालूम नहीं होता कि शास्त्र में इसे सम्यकृत्व कहते हैं। पर वह इतना समझता है कि देह को होता है, वह मुझे नहीं होता। देहाध्यास छूटता है। जीव को कर्म रुकावट करते हैं। तथापि 'मेरा दोष है' यह समझ नहीं आती। यह तो इसका दोष है, यों मानता है। समता, क्षमा, धीरज, सहनशीलता, ये सब गुण सम्यकृत्व प्रगटाने वाले हैं। ये गुण टिके रहें तो सम्यकृत्व हो। समझे तो सहज में हो, अन्यथा अनन्त उपाय करने पर भी न हो।

प्रश्नः- क्या समझना है?

उत्तरः- ज्यों ज्यों ज्ञानी की आज्ञा पालें त्यों त्यों व्यक्त और अव्यक्त सब विभाव नाश होते हैं। कर्म के सिर मेख मारने वाले जीव भी थे। क्या कहें, योग्यता नहीं है, ऐसे प्रभुश्रीजी कहते थे। जीव की दशा जैसे

जैसे बढ़े वैसे वैसे कहो, क्योंकि वाणीयोग से स्वरूप कहा नहीं जा सकता। जीव की योग्यता पूर्वक ज्ञानी कहते हैं। एकदम सिद्ध की बात करें तो पूछता है कि वहाँ चाये-पानी मिलता है? पान-मसाला मिलता है? वहाँ खाने-पीने को यदि नहीं मिलता तो वहाँ जा कर क्या करें? ज्ञानी धीमे धीमे उसे रुचि उत्पन्न कराते हैं। मोक्ष की सच्ची रुचि हो तो सम्यक्त्व होता है। जीव की योग्यता बढ़ाने के लिए सब शास्त्र हैं। प्रभुश्रीजीने पहले बहुत पुरुषार्थ किया था, जो दिखता है वह सब भ्रम है, भ्रम है इस तरह करते। कृपालुदेव सच्चे हैं यह पकड़ रखनी। **'सत्पुरुष में ही परमेश्वर बुद्धि'**, ज्ञानियों ने इसे परम धर्म कहा है। यही करना है। ज्ञानी तो मार्ग बता दे, चलना तो अपने को ही है। अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान। किन्तु अन्तर्मुहूर्त तक भी आत्मा में टिकना कठिन है। ऋषभदेव भगवान सब खाना, पीना छोड़कर क्या करते थे? पुरुषार्थ ही तो करते थे। पर एक हजार वर्ष तक तपस्या की, तब ऐसा अन्तर्मुहूर्त आया।

ज्ञानी पुरुष बोध में तो सब वस्तुएँ कहते हैं, पर जीव समझता नहीं कि ये मेरे काम की हैं। 'जो मारे उसकी तलवार'। जीव को भाला चुभने की तरह ज्ञानी के वचन अन्दर चुभते नहीं। प्रेम बढ़ाओ, तब ही आगम का भेद समझ आएगा। छः पद में समकित रहा है। समकित हो ऐसा कहा है तो भी जीव का जहर नहीं उतरा। मेरा-तेरा, यह सब जहर है। ज्ञानी के वचन सुन कर भी जहर नहीं उतरता। उतरना चाहिए। आत्मा है। यह कहा परंतु चाचा-मामा नहीं कहा। आत्मा में चाचा-मामा कुछ नहीं है। रुचि बदलनी है। ज्ञानी ने देहदृष्टि छुड़वा कर हमें आत्मा दिखायी है। सच्चे को मानो। ज्ञानी के वचनों को पकड़ने वाला चाहिए। भूल एक मान्यता की है।

जड़, जड़ ही है और चेतन, चेतन है। जीव जड़ को और चेतन को एक मानता है। उसमें भेद डालने के लिए, ज्ञानी कहते हैं। यह सब पलट के भूला कर, बदलाव करके ज्ञानी को यह कराना है, कि यह मेरी साक्षात् आत्मा है। वह वस्तु जहाँ है, वहाँ ज्ञानी की दृष्टि है, परन्तु योग्यता होगी तो दृष्टि खोल कर देगें। **प्रमाद नहीं करना। और ज्यादा जल्दी भी नहीं करना।**

१५५

बो.भा.३, पृ.-५०८, पत्रांक-५५०

(मंदाक्रांता)

मंत्रे, मंत्र्यो, स्मरण करतो, काळ काढुं हवे आ,
ज्यां त्यां जोवुं, पर भणी भूली, बोल भूलुं पराया;
आत्मा माटे जीवन जीववुं, लक्ष राखी सदा ए,
पामुं साचो जीवन-पलटो, मोक्षमार्गी थवाने।

भावार्थः- परम कृपालुदेव की अनन्त कृपा से जो मुमुक्षु जीव को संत के योग और सद्बोध से संसार जहर समान, राग द्वेष से जलता हुआ और एकदम छोड़ने योग्य तथा स्वप्न में भी प्रिय न लगने वाला स्पष्ट समझ में आ गया है तथा महा पुण्य के उदय से प्रत्यक्ष परमकृपालुदेव ने, समाधि-मरण के कारण रूप मंत्र की आराधना करने को कहा है, उस महा मन्त्र की जिसे प्राप्ति हो गई है; तथा वह मंत्र ही भवसागर पार करने में नाव समान है, ऐसा जान कर जिसने उस ज्ञानीपुरुष की आज्ञारूप महामन्त्र का आधार दृढ़ता पूर्वक ग्रहण किया है, ऐसा भाग्यशाली मुमुक्षु अपनी भावना ऊपर की पँक्तिओं में प्रगट करता है कि हे भगवन ! जब तक मन्त्र मिला न था, तब तक तो यह जीव देह का दास बन कर रहता था, पुद्गल की बाजी में पागल हो कर स्वयं को भूल रहा था, किन्तु अब परम कृपालुदेव की कृपा से छूटने की - मोक्ष की रुचि ऐसी जागी है कि अब तो मृग जिस तरह वीणा के संगीत में भान भूल जाता है, मानो मन्त्रित कर लिया हो, इस तरह स्वयं को मारने के लिए, धनुष्य खींच कर बाण छोडने की तैयारी करने वाले पारधी को नजर से देखते हुए भी मृत्यु का डर भूल कर, संगीत की लहरों को सुना करता है, उसी तरह मैं भी जितना काल अब जीने का शेष होगा; उतना काल तक उस मन्त्र का स्मरण करता रहूँगा। ऐसी भावना यह भाग्यशाली मुमुक्षु करता है।

पहली पंक्ति में कथित, करने में जो जो विघ्न लगते हैं, उन्हें दूर करने के लिए दूसरी पँक्ति में बताया है पाँचो इन्द्रियों द्वारा मन भटकता है। उसमें 'वचन नयन यम नाहीं' में कहे अनुसार आँखें और शब्द, महा विघ्नरूप हैं। जहाँ तहाँ जीव देखा करता है, राग-द्वेष किया करता है तो कदापि मोक्ष न

होगा। इसलिए आत्मा का उपकार न करने वाले पर पदार्थों को निरर्थक देखने का बंध करने के लिए, अर्थात् इस आदत को भूल जाने के लिए वह निर्णय करता है। अभी ऐसा पुरुषार्थ करे तो नए कर्म बांधने में इन्द्रियाँ प्रेरक थी, वे रुक तो जाएँ, परन्तु अज्ञान दशा में अज्ञानी गुरु या असत्संग वासियों के जो जो उपदेश, शिक्षाएँ सुनकर प्रियरूप या अप्रियरूप में इकट्ठी कर रखी हों, वे मन में स्फुरित हो और उन में रमणता हो तो मन्त्र-स्मरण में मन को टिकने न दें, रहने न दें।

यह सब किस लिए करते हो? किस लिए जिना है? वह तीसरी पँक्ति में कहते हैं; अब तो यही लक्ष्य रखना है कि जिन जिन साधनों से आत्महित हो वही करने हैं। आत्मा के लिए ही जिना है; यह लक्ष्य कभी भूलें नहीं, यह निर्णय करना है। यह सब होने पर ही मोक्ष मार्ग पर चढ़ा जा सकता है, यह समझ आने से मुमुक्षु अपने अब तक के जीवन को परिवर्तन कर डालने का निर्णय करता है और सच्चे पुरुष की शोभारूप, उस महापुरुष के कदम कदम चल कर मोक्ष मार्ग अंगीकार करता है।

संसार का पक्ष छोड़कर ज्ञानी के पक्ष में मृत्यु पर्यंत रहने का उसका निर्णय अन्तिम पंक्ति में बताया है। अब मैं पहले था वह नहीं, परन्तु परम कृपालुदेव की कृपा ने मुझे मोक्ष के रंग में रंग डाला, इसलिए मैं दूसरा जन्म पाने की तरह पुराने भाव, पुरानी बातें, पुराने संस्कार छोड़कर, ज्ञानी के संमत किए भाव, उन की बातें, उनके संस्कार ग्रहण करुंगा। भ्रमरी जैसे इयळ (सुण्डी) को मिट्टी के घर में बन्द कर के डंख मार कर चली जाती है, बाद में इयळ भ्रमरी का स्मरण करते करते भ्रमरी बन जाती है।'भृंगी इलिका ने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे।'उसी तरह परमकृपालुदेव द्वारा प्रदत्त मन्त्र का स्मरण करते करते परम कृपालुदेवकी दशा पाने के लिए अब तो जीना है जी। परमकृपालुदेव का योग बल और इस जीव का पुरुषार्थ, दोनों मिलने से मोक्षमार्ग में आगे बढ़ा जा सकता है, वह बताने के लिए यह रहस्यपूर्ण दृष्टांत बताया गया है।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

श्रीमद् वीतराग भगवंतो द्वारा निश्चितार्थ
किया हुआ, अचिन्त्य चिंतामणी स्वरूप,
परम हितकारी, परम अद्भुत,
सर्व दुःखों का निःसंशय आत्यन्तिक
क्षय करने वाला परम अमृत स्वरूप
सर्वोत्कृष्ट शाश्वत धर्म
जयवंत हो! त्रिकाल जयवंत हो।

उस श्रीमद् अनंत चतुष्टय स्थित भगवंत और उस जयवंत धर्म का आश्रय सदैव करना चाहिए। जिनका अन्य कुछ सामर्थ्य नहीं, ऐसे अबुध - अशक्त मनुष्य भी उस आश्रय के बलसे परम सुख हेतु, अद्भुत फल को पाएँ हैं, पाते हैं और पाएँगे। अतः निश्चय ओर आश्रय करना चाहिए। अधैर्य से खेद मत करें।

चित्त में देहादि भय का विक्षेप भी नहीं करना चाहिए।

देहादि संबंधी जो व्यक्ति हर्ष-विषाद नहीं करते, वे पूर्ण द्वादशांग को संक्षेप में समझे हैं, ऐसा समझना। यही दृष्टि करनी चाहिए।

मैं धर्म नहीं पाया, मैं कैसे धर्म पाऊँगा? इत्यादि खेद न करते वीतराग पुरुषों का धर्म जो देहादि संबंधी से हर्ष-विषाद वृत्ति दूर करके आत्मा असंग - शुद्ध - चैतन्य - स्वरूप है, ऐसी वृत्ति का निश्चय और आश्रय ग्रहण करके, उसी वृत्ति का बल रखना। मंद वृत्ति हो जाएँ तो वीतराग पुरुषों की दशा का स्मरण करना। उस अद्भूत चरित्र पर दृष्टि रख कर वृत्ति को अप्रमत्त करना।

यह सुगम और सर्वोत्कृष्ट उपकारक तथा कल्याण स्वरूप है।

निर्विकल्प।

- श्रीमद् राजचंद्र : पत्रांक ८४३.

सुखी होने की कला

जो आपको अच्छा लगता है,
वह दूसरों को भी अच्छा लगता है ।

जो आपको अच्छा नहीं लगता,
वह दुसरों को भी अच्छा नहीं लगता ।

जो आपको अच्छा लगता है,
वैसा व्यवहार अन्यों के साथ करें ।

जो आपको अच्छा नहीं लगता,
वैसा व्यवहार अन्य लोगों के साथ मत करें ।

'एक आत्मा को जाना, उसने सब जाना'

निर्ग्रंथ प्रवचन

श्रीमद् राजचंद्र निजाभ्यास मंडप तथा विहार भवन ट्रस्ट
अमदावाद - वडवा -ईडर